सस्ता-साहित्य-मण्डल

साठवाँ ग्रन्थ

दैवी-संपद्

"दैवीसंपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता"

—गीता

लेखक

बीकानेर निवासी

सेठ श्री रामगोपाल मोहता

प्रकाशक

सस्ता-साहित्य-मण्डल,

अजमेर।

निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री रामगोपाल मोहता राजस्थान के एक प्रसिद्ध विद्वान् विचारक तथा समाज सुधारक हैं। आपका आध्यात्मिक विषयों में सराहनीय प्रवेश है। "दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता" गीता के इस प्रसिद्ध श्लोक को विवेचना का आधार मान कर आपने भगवद्गीता के व्यवहार-दर्शन की व्याख्या की है। इसका प्रथम संस्करण 'चाँद' कार्यालय से प्रकाशित हुआ था। इसकी अच्छी माँग होने से यह दूसरी वार छपकर तैयार है। इस वार इसे प्रकाशित करने का सुअवसर मोहताजी की कृपा से हमें मिला है इसके लिए हम उन्हें किन शब्दों में धन्यवाद दें?

मोहताजी की प्रेरणा से—सहायता से हम इस पुस्तक का मूल्य हमारे यहाँ की अन्य पुस्तकों को अपेक्षा कम रख रहे हैं। हम इसके लिए मोहताजी के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करते हैं।

एक वात का हमें खेद है कि पुस्तक में प्रूफ संशोधन की ऐसी भूलें रह गई हैं जो हम जैसे पुस्तक प्रकाशक के लिए शोभाप्रद नहीं हैं। लेकिन जो परिस्थितियाँ यहाँ थीं उनका आपको दिग्दर्शन कराने से तो ग़लतियाँ दूर हो नहीं जावेंगी। इतना ही आप समझलें कि परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण ही ये भूलें रहने पाई हैं। लेकिन वे भूलें भूलें ही हैं—उनके लिए हम जिम्मेदार हैं। उसके लिए हम शरमिंदा हैं। जो भूलें रही हैं उनका शुद्धि-पत्र अन्त में दिया गया है। पढ़ने के पहले पाठकों से प्रार्थना है कि वह कृपा करके पहले उन्हें सुधार लें। आगे से हम ऐसा प्रबन्ध कर रहे हैं कि पाठकों को इस सम्बन्ध में शिकायत करने का मौका न हो। —*मंत्री*

प्रस्तावना

तन्त्रता के लिए आजकल सभ्य जगत में प्रायः सर्वत्र ही असाधारण संघर्ष एवं विप्लव मच रहा है। अनेक प्रकार के धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक बन्धनों से लोग इतने तङ्ग आ गए हैं कि उनसे छुटकारा पाने के लिए बड़े ही आतुर प्रतीत होते हैं। कहीं पर धार्मिक अन्ध-विश्वासों और धर्म-गुरुओं के पाश से छुटकारा पाने के लिए विप्लव मचा हुआ है और ख़ून-ख़राबियाँ होती हैं; कहीं राजनैतिक गुलामी की ज़ञ्जीरों को तोड़ फेंकने के लिए अनन्त प्रकार के कष्ट उठाए जा रहे हैं और असंख्य प्राणों की आहुतियाँ दी जाती हैं; कहीं सामाजिक बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष की आग धधक रही है और कहीं आर्थिक दासता दूर करने के लिए परस्पर में घोर संग्राम हो रहा है। इतना सब कुछ होने पर भी सच्ची स्वतन्त्रता अब तक कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। यदि कोई जाति अथवा कोई देश किसी विशेष प्रकार के बन्धन से छुटकारा पाता है तो साथ-ही-साथ, उसी समय अन्य किसी प्रकार के बन्धन से बँध जाता है; क्योंकि सच्ची स्वतन्त्रता का वास्तविक रहस्य जाने बिना उसके लिए यथोचित उपाय नहीं किया जाता। बात यह है कि किसी ख़ास विषय में अस्थाई भौतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेना मात्र ही सच्ची स्वतन्त्रता नहीं है। परन्तु इतना अवश्य है कि जिन लोगों में स्वतन्त्रता के भाव

जाग्रत हो जाते हैं, उनमें दासता की मनोवृत्ति कम हो जाती है; फलतः पराधीनता के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं।

अन्य देशवासियों की तरह भारतवासियों में भी स्वतन्त्रता के लिए कुछ आतुरता उत्पन्न हुई है; परन्तु वह आतुरता अबतक केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता तक ही परिमित है। जिन कारणों से यहाँ के लोग राजनैतिक परतन्त्रता में फँसे तथा जिन कारणों से वह अब तक बनी हुई है अर्थात् जो—अनैक्य उत्पन्न करने वाले—अड़े हुए धार्मिक अन्ध-विश्वास, सामाजिक बन्धन और आर्थिक परावलम्बन, राजनैतिक परतन्त्रता के कारण हैं, उनको दूर करने का समुचित उपाय अब तक कुछ भी नहीं किया जा रहा है; अतः भारतवासी सब प्रकार के बन्धनों की बेड़ियों में ज्यों-के-त्यों मज़बूती से जकड़े हुए हैं। क्या आर्थिक, क्या सामाजिक, क्या धार्मिक और क्या राजनैतिक—किसी भी तरफ़ दृष्टि डालें—भारतवर्ष में सर्वत्र पराधीनता-ही-पराधीनता का साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है।

जीवन-निर्वाह के लिए अर्थोपार्जन करने में यहाँ के लोगों में स्वावलम्बन का प्रायः अभाव है। मज़दूरी, नौकरी, व्यवसाय आदि अर्थोपार्जन के जितने साधन हैं, उनके लिए हम लोग दूसरों पर निर्भर हैं—अपने-आप कुछ भी नहीं कर सकते। यदि किसी व्यक्ति पर निर्भर न भी रहें—तो प्रारब्ध, ग्रह-नक्षत्र, भूत-प्रेत, देवी-देवता एवं पीर-पैग़म्बर आदि का आश्रय अवश्य लेते हैं और इन सब से बढ़कर ईश्वर पर अपना सारा बोझ लाद कर पूरे परावलम्बी बने रहते हैं।

सामाजिक व्यवहारों में, सामाजिक मर्यादाओं की प्राचीन पुस्तकों (धर्मशास्त्रों) और प्रचलित रूढ़ियों के गुलाम बने हुए हैं। किसी भी सामाजिक व्यवहार में, इन पुस्तकों की मर्यादाओं और रूढ़ियों से विरोध का भ्रम हुआ कि "हम दीन दुनिया से गए" ऐसा भय रहता है और समाज के नेताओं, पञ्चों और जाति-भाइयों के बहिष्कार के आतङ्क से सदा दबे रहते हैं।

अपनी आत्मिक उन्नति के लिए हम लोग धर्म और ईश्वर के ठेकेदार—आचार्यों और धर्म-गुरुओं के सर्वथा अधीन रहते हैं, जिससे हमारे आत्म-बल का नितान्त ही ह्रास हो गया है। चोटी से लेकर एड़ी तक इन लोगों के गिरवी रखे हुए हैं यानी उनके क़ब्ज़े में हैं। हमारा कोई व्यवहार ऐसा नहीं, जो उनकी स्वीकृति के बिना स्वतन्त्रता-पूर्वक हम लोग कर सकें। अपना पारलौकिक कल्याण भी हम उन्हीं की दया पर निर्भर मानते हैं। उनकी कृपा के बिना हम अपने परमात्मा की प्राप्ति भी नहीं कर सकते।

इस तरह की पराधीनता की मनोवृत्ति राजनैतिक स्वतन्त्रता कैसे क़ायम रख सकती थी? अस्तु, जिन लोगों की मनोवृत्ति स्वाधीनता को अपनाए हुए थी अर्थात् जिनके बन्धन हम से कम और ढीले थे, उन्होंने हमारी राजनैतिक स्वतन्त्रता छीनकर इस क्षेत्र में भी हमें पूरा पराधीन बना दिया। इस समय हम लोग स्वयं अपने स्वत्वों की रक्षा करने में नितान्त ही असमर्थ हैं—यहाँ तक कि छोटी-से-छोटी बात के लिए भी हर तरह से विदेशी और विधर्मी लोगों की दया के भिखारी हैं। पराव-लम्बन के भाव हम में यहाँ तक बढ़े हुए हैं कि अपनी भलाई के लिए तो दूसरों पर निर्भर रहते ही हैं, किन्तु अपनी बुराइयों के दोष भी दूसरों पर ही मढ़ते हैं। सारांश यह कि अपने लिए अच्छा या बुरा कुछ भी स्वतन्त्रता-पूर्वक करने के लिए हम लोग अपने-आपको योग्य नहीं समझते।

अब देखना चाहिए कि हमारी इतनी पराधीनता का मूल-कारण क्या है? कई लोग हमारे जाति-पांति के भेद-भाव; कई नाना-पन्थ और नाना सम्प्रदायों के झगड़े; कई वर्ण-आश्रम की मर्यादाओं का नष्ट हो जाना; कई ब्राह्मण-जाति के अत्याचार; कई धार्मिक अन्धविश्वास; कई स्त्रियों एवं अन्त्यजों की पद-दलित अवस्था; कई आपस की अनेकता; कई बाल-विवाहादि सामाजिक कुप्रथाओं के कारण बल-वीर्य का ह्रास होना और कई कलियुग का आगमन आदि—अनेक कारण हमारी पराधीनता के बताते हैं; परन्तु गहरा विचार करने से इसका एकमात्र कारण यही निश्चय होता

है कि हम लोगों ने "दैवी सम्पद्"—अर्थात् अखिल विश्व में सर्वत्र एकात्म-भाव के निश्चयपूर्वक सबके साथ एकता के प्रेमयुक्त व्यवहार करना—छोड़कर, "आसुरी सम्पद्" को अपना लिया अर्थात् हम सबने अपने पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार और पृथक्-पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ में ही आसक्ति करली। यही हमारे पतन के अनेक कारणों का एक मूल कारण है। इसी से अन्य सब बुराइयाँ उत्पन्न हुई हैं और जब तक इस मूल कारण का समुचित उपाय नहीं किया जायगा, तब तक हमारी पराधीनताओं एवं दुःखों का कभी अन्त नहीं होगा—यदि एक मिटेगी तो दूसरी उत्पन्न हो जायगी। जब तक रोग का मूल कारण नहीं मिटता तब तक एक उपद्रव शान्त होता है तो दूसरा उठता रहता है। एकाङ्गी उपायों से वास्तविक रोग की निवृत्ति कभी नहीं होती।

इस पुस्तक के टाइटिल पेज पर जो गीता का श्लोक है, उसका आशय यह है कि "दैवी सम्पद" मोक्ष अर्थात् स्वाधीनता का कारण है और "आसुरी" बन्धन अर्थात् पराधीनता का! उक्त भगवद्वाक्य के अनुसार, पराधीनता से पीछा छुड़ा कर स्वाधीन होने के लिए "आसुरी सम्पद्" छोड़कर "दैवी सम्पद्" धारण करना एकमात्र उपाय है और इसी का निरूपण करना इस पुस्तकका उद्देश्य है।

इस स्थान पर यह खुलासा कर देना आवश्यक है कि यहाँ "मोक्ष" शब्द का प्रयोग, मरने के बाद पापों से छूट कर "मुक्ति" प्राप्त करने मात्र के सङ्कुचित अर्थ में नहीं हुआ है, किन्तु इहलौकिक और पारलौकिक सब प्रकार के बन्धनों से—चाहे वे आर्थिक हों या सामाजिक, धार्मिक हों या राजनैतिक और चाहे वे अपने अच्छे-बुरे कर्मों के फल-स्वरूप हों या दूसरों के—यहीं पर छुटकारा पाने अर्थात् पूरे स्वाधीन एवं जीवन-मुक्त होने के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। अतः इस पुस्तक में मोक्ष, मुक्ति, स्वतन्त्रता, स्वाधीनता अथवा छुटकारा आदि शब्द जहाँ आए हैं, वहाँ उनका यही व्यापक अर्थ समझना चाहिए।

जहाँ अन्य देशों के लोग उक्त सच्ची स्वतन्त्रता (जीवन-मुक्ति) के असली रहस्य एवं उसकी प्राप्ति के वास्तविक उपाय जानने के अनुसन्धान में बड़े-बड़े दिमाग़ लड़ा रहे हैं; वहाँ हम लोगों के पूर्वज उस अनुपम ज्ञान-निधि को सबके हित के लिए "वेदान्त दर्शन" रूप अक्षय भण्डार में भर गए हैं और श्रीमद्भगवद्गीता एवं योगवासिष्ठ में उसका खूब अच्छी तरह खुलासा कर गए हैं। योगवासिष्ठ में प्रायः श्रीमद्भगवद्गीता के सिद्धान्तों ही की बहुत विस्तार से व्याख्या की गई है, परन्तु वह ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जाने से सर्वसाधारण के उपयोग में कम आता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्री भगवान् ने लोगों के उद्धार के लिए केवल सात सौ श्लोकों ही में उक्त ज्ञान-भण्डार का बड़ी ही उत्तम एवं अद्भुत रीति से समावेश करके गागर में सागर भर दिया है और वह भी ऐसी सरल भाषा में कि उसको एक साधारण व्यक्ति भी सुगमता से समझ सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता का मैं विशेष रूप से अध्ययन और मनन करता हूँ और इस अद्भुत शास्त्र पर जितना ही अधिक विचार करता हूँ, उतनी ही श्रद्धा इस पर बढ़ती जाती है। यही कारण है कि इस पुस्तक में मैंने श्रीमद्भगवद्गीता के प्रमाण स्थान-स्थान पर दिए हैं। कई लोगों को उक्त सात सौ श्लोकों की श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीकृष्ण महाराज की रची हुई होने में सन्देह है। इस विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि श्रीमद्भगवद्गीता चाहे भगवान श्रीकृष्ण महाराज की कथी हुई हो या किसी अन्य महात्मा की, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके वक्ता को आत्मा-परमात्मा की एकता का प्रत्यक्ष अनुभव था अर्थात् अखिल विश्व को वह अपने में और अपने को सब में देखता था और उसने समष्टि अहङ्कार यानी साम्य भाव की स्थिति में इस अलौकिक ग्रन्थ की रचना की थी। समष्टि अहंभाव सम्पन्न महान आत्मा वस्तुतः परमात्मा ही होता है, अतः उक्त अवस्था में दिया हुआ यह भगवदुपदेश सार्वभौम

एवं सार्वजनिक "राज-विद्या" है अर्थात् जाति-भेद, वर्ण-भेद, आश्रम-भेद, धर्म-भेद, सम्प्रदाय-भेद, देश-भेद, काल-भेद आदि किसी भी प्रकार के भेद बिना, यह सब श्रेणी के लोगों के लिए एक समान हितकर अर्थात् सब प्रकार के बन्धनों से छुड़ाने वाला है। इसलिए जहाँ इसके श्लोकों के प्रमाण दिए हैं, वहाँ उनके अर्थ का खुलासा ऐसे व्यावहारिक ढङ्ग से करने का प्रयत्न किया गया है कि जन-साधारण उनको सुगमता से समझ कर अपने-अपने रात-दिन के व्यवहारों में उनका उपयोग कर सकें अर्थात् व्यवहारिक रूप से उन पर अमल कर सकें तथा उक्त भगवदुपदेशानुसार अपने-अपने आचरण यथाशक्य सात्विक बनाते हुए सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होने अर्थात् सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उद्योग में अग्रसर हो सकें। किसी भी उपदेश के अनुसार यदि व्यवहार न किया जाय, तो केवल पढ़ने-सुनने और समझ लेने मात्र से उसका वास्तविक लाभ नहीं होता। पाठक महोदयों से विनम्र प्रार्थना है कि मेरे इस निवेदन को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक को पढ़ें और इसमें जो त्रुटियाँ हों, उनकी मुझे सूचना देने की कृपा करें।

निवेदक,
रामगोपाल मोहता

प्रथम प्रकरण

दैवी सम्पद्

प्रथम प्रकरण

परतन्त्रता और स्वतन्त्रता अर्थात् बन्धन और मोक्ष

स्वतन्त्रता अर्थात् मोक्ष के लिए बेचैनी का कारण

यह कैसी विचित्र बात है कि यद्यपि संसार में सभी देहधारी, किसी न किसी रूप में, परतन्त्र अर्थात् भाँति-भाँति के बन्धनों से बँधे हुए हैं—सर्वथा स्वतन्त्र कोई भी नहीं है—फिर भी प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर छटपटाता रहता है और स्वतन्त्रता सब को एक समान प्यारी है। बालक, अपने पूर्वजों के अधीन; स्त्री, पुरुष के अधीन; सेवक, स्वामी के अधीन; प्रजा, राजा के अधीन; राजा, मरियादाओं के अधीन; छोटे, बड़ों के अधीन; व्यक्ति समाज के अधीन एवं व्यष्टि, समष्टि के अधीन रहते हैं। आस्तिक लोग अपने को ईश्वर के अधीन मानते

हैं और जीवमात्र काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के अधीन एवं कर्मों के पाश से सदा बँधे हुए रहते हैं। चराचर सृष्टि एक दूसरे पर निर्भर है एवं ब्रह्माण्ड में जितने पदार्थ हैं वे एक दूसरे के प्रेम और आकर्षण से बँधे हुए हैं। तात्पर्य यह कि जब सारे ब्रह्माण्ड में बन्धन रहित पदार्थ कोई है ही नहीं तो फिर यह स्वतन्त्रता, स्वाधीनता या मुक्ति का भाव आया कहाँ से? इसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए? वेदान्त कहता है कि इसका कारण सबके भीतर है; अर्थात् जो सब का असली अपना आप है यानी जो एक आत्म-तत्त्व सब में इकसार भरा हुआ है, वह सदा स्वतन्त्र और निर्बन्धन है; अतः स्वतन्त्रता—अपना असली स्वभाव होने से—सबको अत्यन्त प्यारी है और इसलिए इसके वास्ते इतनी बेचैनी है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

—गी० अ० १३-३१

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥

—गी० अ० १३-३२

अर्थ—हे अर्जुन! अनादि और निर्गुण होने से यह (प्रत्यक्ष उपस्थित) अव्यय (सदा एकरस रहने वाला) परम-आत्मा (द्वैत भाव से परे, अनेकों में एक, सर्वव्यापक, सूक्ष्म आत्म-तत्त्व) शरीरों में रहता हुआ भी कुछ नहीं करता और न उसे किसी प्रकार का लेप अर्थात् बन्धन ही होता है।

जैसे अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण, आकाश प्रत्येक पदार्थ के अन्दर और बाहर ओत-प्रोत भरा हुआ भी किसी से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार प्रत्येक शरीर में सूक्ष्म-रूप से सर्वत्र रहता हुआ आत्मा भी लिप्त (बद्ध) नहीं होता।

एकता सत् अतः मोक्ष है और अनेकता असत् अतः बन्धन है

तात्पर्य यह है कि अनेकों में जो एक है अर्थात् नानात्व में जो एकत्व है वह सत् है और उसमें किसी प्रकार का बन्धन नहीं है और पृथकता असत् है और इसीसे सब बन्धन होते हैं। सारांश यह कि एकता ही मोक्ष और पृथकता ही बन्धन है। जहाँ एक से दो होते हैं वहीं पराधीनता अथवा बन्धन को अवकाश रहता है, परन्तु जहाँ एक के सिवाय अन्य कोई पदार्थ है ही नहीं, वहाँ कौन किसके अधीन रहे और कौन किसको बाँधे। वेदान्त कहता है कि वास्तव में एक के सिवाय दूसरा कुछ है नहीं! जगत् में जो इतनी अनेकता प्रतीत होती है वह एक ही आत्मा के अनेक नाम और अनेक रूपों का बनाव है; उससे भिन्न कुछ नहीं है। और इस नाम-रूपात्मक जगत् के जो अनन्त दृश्य हैं वे प्रति क्षण बदलते रहते हैं; इस-लिए वे सब असत् हैं; क्योंकि जो पदार्थ स्थायी नहीं रहता वह सत् नहीं हो सकता—उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। जिस तरह कोई व्यक्ति अपनी बात पर स्थिर नहीं रहता, क्षण-क्षण में पलटता रहता है वह झूठा कहा जाता है; उसकी बात पर कोई विश्वास नहीं करता—यदि कोई उसे सच्चा मान कर विश्वास करे तो धोखा खाता है—इसी तरह प्रतिक्षण बदलने वाली जगत् की अनेकता को जो सत् मानकर संसार के व्यवहार करते हैं वे धोखा खाते हैं, अपने लिए बन्धन उत्पन्न करते हैं और दुःख उठाते हैं। परन्तु जगत् का असली तत्त्व जो एकत्व भाव है वह अपरि-वर्तनशील होने से सदा इकसार बना रहता है; इसलिए वह सत् है और इस एकता रूपी सत् के आधार पर व्यवहार करने वाले को कोई बन्धन नहीं होता, किन्तु वह सदा स्वतन्त्र एवं सबका स्वामी होता है। केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं किन्तु आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टि से भी एकता सच्ची और अनेकता झूठी है; क्योंकि एक ही आत्मा की अनन्त दैवी

शक्तियाँ अपने सूक्ष्म-भाव में, सूक्ष्म (आधिदैविक) जगत् रूप होकर रहती हैं। और वही सूक्ष्म शक्तियाँ जब घनीभूत होकर स्थूल भाव धारण करती हैं तो भौतिक—जगत् रूप बन जाती हैं; अतः सब प्रकार से एकत्व ही सच्चा है। जैसे जल-तत्त्व सूक्ष्म अवस्था में भाफ-रूप होता है, तरल अवस्था में पानी-रूप रहता है और जब स्थूल-रूप धारण करता है तो वह बर्फ बन जाता है; परन्तु सब अवस्थाओं में है वह एक जल-तत्त्व ही; जल से भिन्न कुछ नहीं है; इसी तरह सूक्ष्म आधिदैविक और स्थूल आधिभौतिक जगत् सब एक आत्मा ही के अनेक रूप हैं। इसमें जो भिन्नता प्रतीत होती है वह कल्पित माया है, जो प्रति क्षण बदलती रहती है। अतः जब अनेकता झूठी है तो इससे उत्पन्न होने वाले बन्धन अर्थात् पराधीनता भी वस्तुतः झूठी है और एकता सच्ची होने से इसका स्वाभाविक गुण स्वतन्त्रता भी सच्ची है इसलिए अनेकता के भ्रम से जो बन्धन प्रतीत होते हैं वे झूठे और अस्वाभाविक होने के कारण सबको अप्रिय एवं दुखदायक प्रतीत होते हैं और एकता-रूपी स्वाधीनता अथवा मुक्ति सच्ची और स्वाभाविक होने से सबको प्रिय एवं सुखदायक प्रतीत होती है। इसीलिए अनेकता के बन्धनों से छुटकारा पाने और एकता रूपी मुक्ति प्राप्त करने के लिए सब कोई बेचैन रहते हैं।

एकता रूपी दैवी सम्पद् को त्याग कर लोगों ने स्वयं अपने लिए बन्धन उत्पन्न कर लिए

परन्तु लोगों ने अपनी ही मूर्खता से अपनी—वास्तविक एकतारूपी—स्वाभाविक स्वतन्त्रता अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य साम्यभाव की दैवी प्रकृति को भुला दिया और जगत् के नानात्व अर्थात् अनेक नाम और अनेक रूपों के बनाव को सच्चा और अपने आप को दूसरों से पृथक् मानकर भौतिक शरीरों में अपने व्यक्तित्व का अहङ्कार कर लिया एवं दूसरों से अपने पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ कल्पित करके उनमें आसक्ति के बन्धन उत्पन्न कर लिए क्योंकि जब अपने

व्यक्तिगत स्वार्थों के उपयोगी भौतिक पदार्थों में राग अर्थात् प्रीति की तो शेष पदार्थों से द्वेष स्वतः हो गया, क्योंकि क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है; अतः जब राग-रूपी क्रिया हुई तो द्वेष-रूपी प्रतिक्रिया साथ ही उत्पन्न होना अनिवार्य था। परिणाम यह हुआ कि पृथकता के मिथ्या ज्ञान के कारण राग और द्वेष के आसुरी भावों में अपने आपको इस छोटी-सी देह और उसके स्वार्थों में सीमा-बद्ध (क़ैद) करके राग-द्वेष से अपने लिए अनेक प्रकार के बन्धन उत्पन्न कर लिये।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्व मोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥

—गी० अ० ७-२७

अर्थ—हे अर्जुन ! संसार में सब भूत प्राणी द्वैत भाव के मोह के कारण राग और द्वेष से (अपने लिए) बन्धन उत्पन्न कर रहे हैं।

भारत की पराधीनता का कारण अनेकता के आसुरी भाव।

भारतवर्ष में जब से यह एकता अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव का वेदान्त-सिद्धान्त, प्रवृत्ति का विरोधी और निवृत्ति का प्रतिपादक माना जाकर केवल निवृत्ति में ही उसका उपयोग होने लगा—प्रवृत्ति में उसका कुछ भी प्रभाव न रहा—तब से इस देश में सब की एकता के ज्ञानयुक्त समत्व भाव से जगत् के व्यवहार करने की दैवी सम्पद् प्रायः लुप्त हो गई और अनेकता को सच्ची समझ कर सब लोग अपने को दूसरों से अलग मानने लगे एवं प्रत्येक-व्यक्ति दूसरों से अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार और दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थों में ही अत्यन्त आसक्त हो गया जिससे राग और द्वेष के आसुरी भावों ने सर्वत्र अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया और आपस की विषमता के व्यवहारों की पराकाष्ठा हो गई। यही कारण है कि यह देश सब प्रकार से पराधीन और अवनत हो गया। इस पृथकता के अहङ्कार के कारण नाना मत, नाना धर्म,

नाना पन्थ, नाना सम्प्रदाय, नाना समाज एवं नाना जातियों के अगणित भेद उत्पन्न हो गए और प्रत्येक मत, धर्म, पन्थ एवं सम्प्रदाय वालों ने अपने-अपने मत के अलग-अलग कर्मकाण्ड एवं अलग-अलग शास्त्र रचकर उनमें अपने मत का मण्डन और दूसरों के खण्डन के वाद-विवाद एवं दूसरे मत वालों से द्वेष उत्पन्न करने वाली शिक्षाएँ भर दीं। अपने अनुयायियों को अपने मत के संकुचित घेरे में जकड़ कर रखने और दूसरों से घृणा करने के उपदेश देना ही उनका एक मात्र उद्देश्य बन गया। प्रत्येक समाज और जाति के मुखिया लोगों ने भी सामाजिक मर्यादाएँ इतनी संकुचित बनालीं कि एक समाज एवं एक जाति के व्यक्ति का दूसरे समाज या दूसरी जाति वालों से किसी प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध ही न रहे। इस तरह की धार्मिक और सामाजिक कट्टरता के कारण देश में अगणित फिरके बन गए। कई लोग अपने को धर्मात्मा, दूसरों को अधर्मी अपने को पवित्र दूसरों को अपवित्र, अपने को कुलीन, दूसरों को अकुलीन, अपने को ऊँचा, दूसरों को नीचा, अपने को बड़ा दूसरों को छोटा, अपने को प्रतिष्ठित दूसरों को तिरस्कृत, अपनेको स्वामी दूसरों को सेवक, अपनेको धनी दूसरों को दीन एवं अपने को शक्तिशाली दूसरों को निर्बल मान कर एक-दूसरे को दबाने, कष्ट पहुँचाने तथा एक दूसरे से द्वेष, घृणा और ईर्ष्या करने लगे। व्यक्तिगत स्वार्थ के भाव यहाँ तक बढ़े कि एक वर्ण दूसरे वर्ण को, एक आश्रम दूसरे आश्रम को, एक जाति दूसरी जाति को, एक कुटुम्ब दूसरे कुटुम्ब को एक ग्राम-निवासी दूसरे ग्रामनिवासी को—यहाँतक कि भाई भाई को, पति पत्नी को, पिता सन्तानों को भी अपने-अपने स्वार्थों के लिए दबाने और एक दूसरे पर अत्याचार करने लगे। अपने-अपने पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए दासता की मनोवृत्ति यहाँ तक बढ़ गई कि अन्धश्रद्धा से ईश्वर, देवी, देवता, भूत, प्रेत, यन्त्र, मन्त्र आदि अदृश्य शक्तियों की दासता करके ही सन्तोष नहीं किया, किन्तु धनी, शक्तिशाली एवं विद्वान मनुष्यों के भी

दास बनकर अपनी व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के लिए उनकी ख़ुशामद और चाटुकारिता करना प्रायः सब का स्वभाव-सा हो गया। प्रत्येक कार्य के लिए दूसरों पर—विशेष कर काल्पनिक अदृश्य शक्तियों पर—निर्भर रह कर परावलम्बी बने रहना श्रेष्ठ धर्म समझा जाने लगा। सारांश यह कि भारतवासियों ने सच्ची एकता के स्थान में झूठी अनेकता को अपनाने द्वारा अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता खोकर पराधीनता उत्पन्न करली, जिससे छुटकारा पाने के लिए बहुत छटपटाते हैं। परन्तु जबतक हम लोग अनेकता के आसुरी भाव छोड़ कर एकता-रूपी दैवी सम्पद् ग्रहण नहीं करते तबतक वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

गी० अ० ९-११

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनींश्रिता॥

—गी० अ० ९-१२

अर्थ—मूढ़ लोग मेरे (सबकी आत्मा के) परम् (अनेकता में एकत्व) भाव को—जो सब भूतों का महान् ईश्वर है—न जानकर, मुझ (सबकी आत्मा) को मनुष्य देहधारी (एक तुच्छ व्यक्ति) समझकर मेरा तिरस्कार करते हैं अर्थात् (स्थूल) मनुष्य-शरीर ही में आसक्ति करके मूर्ख लोग आत्मा के सर्वव्यापी एकत्व भाव को न जानकर अपने आप तिरस्कृत होते हैं।

व्यक्तिगत अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ की मोहात्मक राक्षसी और आसुरी (तमोगुण प्रधान) प्रकृति में आसक्ति रखनेवाले उन मूर्ख लोगों की आशाएँ वृथा, क्रिया निष्फल और ज्ञान निरर्थक होता है अर्थात् भेद-बुद्धि रखते हुए, लोग मुक्ति—स्वतन्त्रता—के लिए जो चेष्टाएँ करते हैं वे सब निष्फल होती हैं।

स्वतन्त्रता स्वाभाविक है और एकता के आधार पर साम्य-भाव से व्यवहार करने से वह स्वतः प्राप्त है

परन्तु जो लोग नाम-रूपात्मक जगत् के नाना-भांति के दृश्यों अर्थात् अनेकता को असत् जान कर उसकी आधारभूत एकता को सच्ची मानते हैं और सर्व भूतात्मैक्य साम्य-भाव-रूपी दैवी सम्पद् युक्त संसार के व्यवहार करते हैं अर्थात् सब में एक ही आत्मा व्यापक समझ कर सबके साथ एकता की साम्य* बुद्धियुक्त प्रेम* पूर्ण सद्व्यवहार करते हैं और अपने व्यक्तिगत अहङ्कार को समष्टि अहङ्कार में एवं अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों में जोड़ देते हैं अर्थात् सबके साथ अपनी एकता कर लेते हैं उनके लिए कोई बन्धन नहीं रहता, किन्तु वे अपने अज्ञान से खोई हुई अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त कर लेते हैं। स्वाधीनता, स्वतन्त्रता या मुक्ति कहीं बाहर से नहीं आती; न उसके लिए स्थानान्तर अथवा (मरके) लोकान्तर जाने की आवश्यकता है और न उसकी प्राप्ति के लिए किसी काल की प्रतीक्षा करने की ज़रूरत है। वह तो सदा-सर्वदा अपने अन्दर मौजूद है अर्थात् स्वतन्त्रता या मुक्ति सबके लिए स्वाभाविक होने से स्वतः प्राप्त है। परन्तु अपनी मूर्खता से लोगों ने पृथकता के भाव कल्पित करके राग-द्वेष के जो नाना-भांति के बन्धन स्वयं उत्पन्न कर लिए हैं केवल उन्हीं को हटाने की आवश्यकता है, फिर स्वतन्त्र अथवा मुक्त तो बने बनाए हैं ही।

> इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितंमनः।
> निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
>
> —गी० अ० ५-१९

अर्थ—जिनका मन समत्व भाव में स्थित हो जाता है वे यहाँ के यहाँ ही सारे संसार को जीत लेते हैं अर्थात उनको स्वतन्त्र एवं मुक्त होने के लिए

---

* तीसरे प्रकरण में समता और प्रेम का खुलासा देखिए।

किसी दूसरे लोक में जाना नहीं पड़ता, किन्तु यहीं पर जगत् के स्वामी अर्थात् स्वतन्त्र हो जाते हैं। क्योंकि निर्दोष अर्थात् सब बन्धनों से रहित ब्रह्म (आत्मा) ही सम अर्थात् सब में एक समान व्यापक है; अतः वे सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव युक्त व्यक्ति, उस निर्दोष और सम ब्रह्म (आत्मा) में ही स्थित रहते हैं। अर्थात् वे यहाँ के यहीं ब्रह्मभूत यानी मुक्त हो जाते हैं।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

—गी० अ० १३–३०

अर्थ—जब सब भूतों का पृथकत्व अर्थात् जगत् का नानात्व एक ही में दीखने लगे और उस एक ही से सब जगत् का विस्तार दीखने लगे अर्थात् अनेकों में एक—नानात्व में एकत्व—दीखने लगे तब ब्रह्म अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है।

इसलिये स्वाधीनता अथवा मुक्ति की इच्छा रखने वालों को दूसरों से अपना भिन्न व्यक्तित्व और दूसरों के स्वार्थों से अपना अलग व्यक्तित्व स्वार्थ-सिद्धि की आसुरी सम्पद् को छोड़ कर साम्य बुद्धि से सबके साथ एकता के ज्ञानयुक्त प्रेम का व्यवहार करने की दैवी सम्पद् को धारण करना चाहिए अर्थात् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार को समष्टि अहङ्कार में और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों में जोड़कर संसार के व्यवहार करने चाहिए।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

—गी० अ० ९-१३

अर्थ—हे अर्जुन ! दैवी प्रकृति को धारण करने वाले महान् पुरुष मुझे (सबकी आत्मा) को सब भूतों का आदि कारण और सदा एकरस रहने वाला जान कर एकत्व भाव से निरन्तर (मुझे सबकी आत्मा को) भजते हैं अर्थात्

सबको एक ही आत्मा के अनेक रूप जान कर अनन्य भाव से सबके साथ सदा प्रेम करते हैं।

एकता से ही व्यवहार यथोचित हो सकते हैं

बहुत से लोगों की यह समझ है कि सबके साथ एकता के ज्ञानयुक्त जगत् के अनेक प्रकार के व्यवहार हो नहीं सकते। स्थावर, जङ्गम, पशु, पक्षी, पुरुष; स्त्री आदि में आपस में, भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्ध होते हुए, एकता के व्यवहार कैसे बन सकते हैं? परन्तु उनकी यह समझ ग़लत है। वास्तव में एकता ही से व्यवहार यथोचित होते हैं और सुधरते हैं; अनेकता से बिगड़ते हैं। जैसे आँख,नाक, कान, मुख, जिह्वा, दाँत, हाथ, पैर, दिल, दिमाग़, नख, केश,नस, नाड़ियाँ आदि अनेक अङ्ग एक ही शरीर के होते हैं। इन से कोई कोमल, कोई कठोर, कोई सूक्ष्म, कोई स्थूल, कोई पवित्र एवं कोई मलीन होते हैं और अपनी-अपनी योग्यतानुसार सब भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवहार करते हैं; परन्तु सब हैं एक ही शरीर के अङ्ग! और जब वे एकता के भाव से सब व्यवहार करते हैं, तभी शरीर का निर्वाह ठीक-ठीक हो सकता है; यदि इन में से कोई भी अङ्ग, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो; दूसरों के साथ एकतायुक्त व्यवहार न करे तो सारे शरीर का व्यापार बिगड़ जाय और साथ-साथ उस अङ्ग का अपना भी नाश हो जाय। फ़र्ज़ करो कि कानों से सुना कि किसी स्थान पर कोई स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ प्राप्त होता है; दिल में खाने की इच्छा हुई, पर उसे लाने के लिये, चले, आँखों ने उसे देखा, नाक ने सूँघा दिमाग़(बुद्धि) ने निर्णय किया कि इसे खाना उचित है, हाथों ने उठाया और नखों द्वारा खुरच कर मुँह में दिया, दाँतों ने चबाया, जिह्वा ने स्वाद लेकर निगल लिया, नाड़ियों ने उसका रस खींच कर सब अंगों को यथायोग्य पहुँचा दिया; यद्यपि कार्य सबके पृथक्-पृथक् थे, परन्तु लक्ष्य सबका एक था और सबने एकता के भाव से, अपने-अपने कार्य किए, जिससे सबकी पुष्टि हुई। यदि सब अङ्ग

इस तरह एकता के भाव से अपने-अपने कार्य नहीं करते तो किसी की भी पुष्टि नहीं होती।

दूसरा दृष्टान्त। एक राष्ट्रीय राज्य में उसका प्रत्येक व्यक्ति उस राष्ट्र का एक अङ्ग होता है और जब प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र के सब व्यक्तियों के साथ अपनी एकता का अनुभव करता हुआ यथायोग्य अपना-अपना व्यवहार करके राष्ट्र की पुष्टि करता है, राष्ट्र के लाभ में अपना लाभ और राष्ट्र की हानि में अपनी हानि समझता है, तभी राष्ट्र का व्यवहार भली प्रकार चल सकता है और वह राष्ट्र उन्नति करता है। यदि किसी राष्ट्र के व्यक्ति अपनी एकता को भूल कर अपने-अपने पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए व्यवहार करने लग जायँ तो उस राष्ट्र के सब व्यवहार बिगड़ जायँ और अवश्य ही उसका पतन हो जाय।

तीसरा दृष्टान्त। नाटक के खेल में जब प्रत्येक एक्टर अपने को उस नाटक का एक अङ्ग समझता है और दूसरे एक्टरों से अपनी एकता का अनुभव करता हुआ, उनके साथ तालबद्ध होकर अपना पार्ट बजाता है एवं दूसरों के पार्ट में सहायक होता है; सबका लक्ष्य एकमात्र खेल को साङ्गोपाङ्ग करने पर रहता है; खेल करते समय व्यक्तिगत पार्ट और व्यक्तिगत स्वार्थ में आसक्ति नहीं रहती; खेल अच्छा होने में ही सब लोग अपनी भलाई समझते हैं, तभी वह खेल ठीक-ठीक सम्पादन होता है और सुधर सकता है। यदि एक्टर लोग आपस की एकता का भाव छोड़ कर अपने पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए उस व्यक्तिगत स्वाँग को सच्चा मान कर उसमें आसक्ति करलें और राजा आदि का उच्च पार्ट लेने वाले हीन पार्ट लेने वालों को भिन्न समझ कर उनका साथ न दें तो वह खेल अवश्य बिगड़ जाता है और साथ-साथ वह व्यक्ति अपनी भी हानि करता है।

इन तीनों दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि एकता ही से सब व्यवहार ठीक-ठीक हो सकते हैं और सुधर सकते हैं; अतः एकता को सच्ची और अनेकता के दृश्यों को नाटक के एक्टरों के स्वाँगों की तरह कल्पित एवं

दिखावटी समझते हुए जगत् के सभी व्यवहार सबके साथ एकता के आधार पर करने चाहिए। सत् होने से एकता ही परमात्मा है और असत् होने से अनेकता, उस एकता-रूपी परमात्मा की प्रति क्षण बदलने वाली माया-शक्ति का दिखाव है। इस अनेकता के मायिक दिखाव में एकता-रूपी परमात्म तत्त्व को सदा-सर्वदा देखते रहना चाहिए। जिस तरह कपड़े में सर्वत्र सूत ओत-प्रोत रहता है—विचार कर देखने से सूत के अतिरिक्त कपड़ा कुछ है ही नहीं—सूत को निकाल देने से कपड़ा शेष ही नहीं रहता, उसी प्रकार जगत् में जगदीश्वर अर्थात् अनेकता में एकता ओत-प्रोत भरी हुई है, उसके सिवाय और कुछ नहीं है। एकता-रूपी जगदीश्वर को निकाल देने से अनेकता-रूपी जगत् का अस्तित्व नहीं रहता; अतः इसी दृष्टि से सब व्यवहार करने चाहिए—यही दृष्टि सच्ची है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

—गी० अ० १३-२७

अर्थ—जो पुरुष, नाशवान सब चराचर भूत प्राणियों में, नाश-रहित परमेश्वर को सम-भाव से स्थित देखता है अर्थात् क्षण-क्षण में परिवर्तनशील जगत् की अनेकता के दिखाव में सर्वत्र एक समान रहने वाली अविनाशी एकता का अनुभव करता है वही वास्तव में देखता है।

इस तरह एकता के उपासक स्वतन्त्र अथवा मुक्त होते हैं।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

—गी० अ० ११-५५

अर्थ—जो मेरे लिए कर्म करता है अर्थात् सब चराचर सृष्टि में सर्वत्र एक परमात्मा का लक्ष्य रख के, सबके साथ एकता का अनुभव करता हुआ कर्म करता है; जो मेरे परायण है अर्थात अपने व्यक्तित्व को जिसने मुझ

(समष्टि-आत्मा = परमात्मा) में—यानी सब में जोड़ दिया है; जो मेरा भक्त है अर्थात् सबके हृदय में स्थित मुझ परमात्मा से—यानी समस्त जगत् से—जो प्रेम करता है, जो सङ्ग से रहित अर्थात् लौकिक पदार्थों में जो व्यक्तिगत आसक्ति नहीं रखता और जो सब भूतों से वैर नहीं रखता अर्थात् जो किसी से भी द्वेष नहीं करता, वह मुझ में मिल जाता है; अर्थात् सब बन्धनों से छूट कर मुक्त हो जाता है।

जगत के व्यवहारों का त्याग अस्वाभाविक है।

बहुधा प्रश्न यह उठा करता है कि जब जगत् की अनेकता का बनाव झूठा और बन्धन-रूप है तो इसके व्यवहार भी अवश्य ही झूठे एवं बन्धन-रूप होंगे? फिर ऐसे व्यवहार किये ही क्यों जायँ? उनको त्याग कर संन्यास ही क्यों न ले लिया जाय? यद्यपि यह प्रश्न सरसरी तौर से तो ठीक प्रतीत होता है, परन्तु यदि अच्छी तरह विचार किया जाय तो यह बिल्कुल निराधार सिद्ध होता है। क्योंकि यद्यपि जगत् की अनेकता का बनाव झूठा है, परन्तु उसके अन्दर की एकता सच्ची है और एकता के आधार पर ही यथोचित व्यवहार होते हैं; पृथकता के आधार पर तो वे बिगड़ते हैं, अतः एकता के ज्ञानयुक्त संसार के व्यवहार करने से वे बन्धनरूप हो नहीं सकते और न उनके त्यागने की आवश्यकता ही रहती है। त्यागने और रखने का प्रश्न ही अज्ञान से उठता है; क्योंकि जहाँ एक से दो होते हैं वहीं त्यागना या रखना हो सकता है। जब एक आत्मा के सिवाय और कुछ है ही नहीं, उसकी माया का खेल यह संसार भी उससे भिन्न नहीं (ख्याली से पृथक् खेल की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती), तो फिर कौन किसको त्यागे और कौन किसको ग्रहण करे? एक ही आत्मा के निर्गुण और सगुण (Positive and Negative) दो भाव हैं; उनमें से किसी का भी त्याग नहीं हो सकता। इसलिए त्याग अस्वाभाविक है—अतः यह हो नहीं सकता। अद्वैत वेदान्त-सिद्धान्त कोरी

कल्पना (Theory) नहीं है कि वह किसी अस्वाभाविक बात का प्रतिपादन करे; वह तो पूरा व्यावहारिक यानी (Practical) है; अतः वह इस अस्वाभाविक त्याग का प्रतिपादन नहीं करता। जहाँ दूसरे मत सब-कुछ छोड़ देने से—यहाँ तक कि देह को भी छोड़ देने से—सुख, शान्ति अथवा मुक्ति की आशा दिलाते हैं वहाँ वेदान्त कुछ भी छोड़ने को नहीं कहता; किन्तु छोड़ना अप्राकृतिक बताता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्मः सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

गी० अ० ३-५

अर्थ—क्योंकि कर्म के बिना एक क्षण भर भी कोई नहीं रह सकता। प्रकृति-जन्य गुणों के अधीन होकर सबको कर्म करने में लगे ही रहना पड़ता है।

परन्तु जिनको एकात्म भाव का सच्चा ज्ञान नहीं है वे भिन्नता के मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न व्यक्तिगत अहङ्कार से अपने कर्त्तव्य को छोड़ बैठते हैं अथवा कर्मों को दुःख एवं बन्धन-रूप समझ कर त्यागते हैं। इस तरह के त्याग को गीता में भगवान् ने राजसी और तामसी त्याग कहा है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः

—गी० अ० १८-७

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेश भयात्त्यजेत्।
सकृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥

—गी० अ० १८-८

अर्थ—जो कर्म अपने लिए नियत अर्थात् गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार अपने जिम्मे हैं उनका संन्यास यानी त्याग किसी को भी करना उचित नहीं है। मोह से किया हुआ उनका त्याग तामस कहलाता है।

शरीर को कष्ट होने के डर से अथवा दुखदायक मान कर यदि कोई

कर्म छोड़ दे तो उसका वह त्याग राजस होता है, उससे त्याग का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

व्यवहार छोड़ देना सच्चा त्याग नहीं, किन्तु अनेकता को झूठी और उसके अन्दर एकता को सच्ची जान कर व्यवहार करना ही सच्चा त्याग है।

वेदान्त शास्त्र जगत् के व्यवहारों का त्याग नहीं करवाता; न किसी को घर-गृहस्थ एवं प्रिय पदार्थ छोड़ने ही को कहता है। यहाँ तो अनेकता को झूठी और उसके अन्दर की एकता को सच्ची जान कर, व्यष्टि अहङ्कार की समष्टि अहङ्कार के साथ एकता करना अर्थात् अपने-आपको सब में जोड़ देना और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों के अन्तरगत मानना यानी सब के स्वार्थों में अपने स्वार्थों को मिला कर, संसार के व्यवहार करना सच्चा त्याग माना गया है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गंत्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

—गी० अ० १८-९

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्न संशयः॥

—गी० अ० १८-१०

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

—गी० अ० १८-११

अर्थ—हे अर्जुन ! अपने लिए जो कर्म नियत हैं अर्थात् गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार जो कार्य अपने ज़िम्मे हैं, उनको करना अपना कर्तव्य है; ऐसा समझ कर, व्यक्तित्व की आसक्ति* और व्यक्तिगत स्वार्थ त्याग कर जो कर्म किए जाते हैं वही सात्विक त्याग माना गया है।

सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव में जुड़ा हुआ, बुद्धिमान एवं संशय रहित त्यागी, प्रतिकूल कर्म से द्वेष नहीं करता और अनुकूल कर्म में आसक्त नहीं होता।

क्योंकि जो देहधारी हैं उससे कर्मों का निःशेष त्याग* हो नहीं सकता; अतः जिसने कर्म-फल अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थ त्याग दिया हो वही सच्चा त्यागी अर्थात् संन्यासी है।

समष्टि-आत्मा = परमात्मा की प्रकृति के इस (संसार-रूपी) खेल में चाहे गृहस्थी के स्वाँग में-उसके योग्य व्यवहार किए जायँ-अथवा संन्यासी के स्वाँग में—उसके योग्य व्यवहार किए जायँ—दोनों ही कल्पित स्वांग हैं और इस खेल में दोनों ही के व्यवहारों की आवश्यकता होती है। कर्म दोनों ही में करने होते हैं। जिस तरह गृहस्थ में रहकर उस के योग्य व्यवहार करना कर्म है उसी तरह गृहस्थ से अलग होकर संन्यास लेना और उसके योग्य व्यवहार करना भी कर्म है; दोनों की योग्यता समान ही है। समत्व बुद्धि से लोक-संग्रह के लिए गृहस्थ का व्यवहार करने से सर्वत्र एकता के अनुभव-रूप आत्म-ज्ञान का जो निरातिशय सुख अर्थात् स्वतन्त्रता या मुक्ति प्राप्त होती है वही समत्व बुद्धि से संन्यास का व्यवहार करने से होती है। इसके विपरीत अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तित्व स्वार्थ की आसक्ति रखकर व्यवहार करने से दोनों ही बन्धन के हेतु हैं; अतः फल दोनों ही का इकसार है। गुण-कर्म-स्वभावानुसार जिसकी जैसी योग्यता हो वैसा करे। यदि गृहस्थ में रहते हुए लोक-

*तृतीय प्रकरण में आसक्ति और त्याग का खुलासा देखिए।

संग्रह के सांसारिक व्यवहार करने की योग्यता हो तो इस तरह करे और यदि संन्यास लेकर लोक-संग्रहार्थ व्यवहार करने की योग्यता हो तो वैसा करे—इस विषय में विवाद करना मूर्खता है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥

—गी० अ० ५-३

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥

—गी० अ० ५-४

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

—गी० अ० ५-५

अर्थ—हे अर्जुन ! जो न तो किसी से द्वेष करता है और न किसी की इच्छा रखता है, उसको सच्चा संन्यासी समझ । क्योंकि द्वैत भाव से रहित हुआ, वह सुखपूर्वक बन्धनों से मुक्त हो जाता है अर्थात जिसने सर्व भूतात्मैक्य बुद्धि से व्यक्तित्व के भाव जन्य राग-द्वेषादि छोड़ दिए हैं वही सच्चा संन्यासी और मुक्त है ।

सांख्य अर्थात् संन्यास और योग अर्थात् समत्व बुद्धि से संसार के व्यवहार करने रूपी कर्म-योग को, अज्ञानी लोग पृथक् कहते हैं—ज्ञानी लोग ऐसा नहीं मानते । (दोनों में से किसी भी) एक का भली-भाँति आचरण करने से, दोनों ही का फल हो जाता है ।

जो स्थान संन्यासियों को प्राप्त होता है वहीं कर्मयोगी भी पहुँचता है। सांख्य (संन्यास) और योग (कर्मयोग) एक ही हैं, ऐसा जो जानता है वही असल तत्त्व को जानता है अर्थात् चाहे गृहस्थ में रह कर संसार के व्यवहार करे अथवा गृहस्थ त्याग कर; एकता के सिवाय द्वैत कुछ है नहीं, यह निश्चय होने से कोई भी बन्धन नहीं रहता।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

—गी० अ० ६-१

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥

—गी० अ० ६-२

अर्थ—जो कर्म-फल का आश्रय न करके अर्थात् जो व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति से रहित होकर अपना कर्त्तव्य कर्म करता है वही संन्यासी और वही योगी है। गृहस्थ को त्यागने वाला तथा कर्मों को छोड़ कर निठल्ले बैठने वाला सच्चा सन्यासी अथवा योगी नहीं है।

हे पाण्डव ! जिसको संन्यास कहते हैं उसी को तू कर्मयोग समझ। क्योंकि संकल्प का संन्यास किए बिना कोई भी कर्मयोगी नहीं होता अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थ के भाव जबतक मन में उत्पन्न होते रहते हैं तबतक कोई सच्चा कर्मयोगी नहीं होता।

सक्ताःकर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथा सक्तश्चिकीर्षुर्लोक संग्रहम्॥

—गी० अ० ३-२५

अर्थ—मूर्ख लोग जिन कर्मों को आसक्ति सहित (अहंता ममता युक्त) किया करते हैं, विद्वान् लोग उनको आसक्ति छोड़ कर लोक-संग्रह के लिए अर्थात् सांसारिक व्यवहार में अपना पार्ट अच्छी तरह बजाने के लिए करते हैं।

संसार के खेल में लोक-संग्रह के लिए कर्म करना सबको आवश्यक है।

तात्पर्य यह कि चाहे स्त्री हो या पुरुष; ब्रह्मचारी हो या गृहस्थी; वानप्रस्थ हो या संन्यासी और चाहे किसी भी जाति या वर्ण का शरीर हो; गुण-कर्म-स्वाभावानुसार अपने कर्त्तव्य कर्म अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार, लोक-संग्रह के लिए अर्थात् संसार-चक्र के चलाने में अपना पार्ट यथावत् बजाने के भाव से, प्रत्येक व्यक्ति को—दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति छोड़ कर—अवश्य ही सदा करते रहना चाहिए। लोक-संग्रह अर्थात् जगत् के व्यवहार चलाने रूपी यज्ञ के निमित्त कर्म किए बिना किसी का भी जीवन निर्वाह नहीं हो सकता; क्योंकि जगत् की स्थिति सबके अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्म करने रूपी यज्ञ-चक्र पर ही निर्भर है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

—गी० अ० ३-८

अर्थ—नियत अर्थात् गुण-कर्म-स्वभावानुसार अपने जिम्मे आए हुए कर्मों को तू कर; कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही अधिक श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तो तेरी शरीर-यात्रा भी नहीं हो सकेगी अर्थात् कर्म किए बिना शरीर का निर्वाह ही नहीं हो सकता।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्ग समाचार॥

—गी० अ० ३-९

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

—गी० अ० ३-१०

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

—गी० अ० ३-११

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

—गी० अ० ३-१२

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

—गी० अ० ३-१३

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

—गी० अ० ३-१४

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

—गी० अ० ३-१५

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

—गी० अ० ३-१६

अर्थ—यज्ञ के लिए अर्थात् संसार-चक्र को अच्छी तरह चलाने के लिए किए जाने वाले कर्त्तव्य-कर्मों के अतिरिक्त केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए जो कर्म किए जाते हैं उनसे ही ये लोग बँधते हैं। तू उपरोक्त यज्ञ के निमित्त—उनमें दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति छोड़ कर—कर्म करता रह।

प्रारम्भ में यज्ञ-चक्र के साथ ही प्रजा को रचकर प्रजापति ब्रह्मा ने उनसे कहा कि इस यज्ञ-चक्र के द्वारा तुम्हारी वृद्धि होवे। यह यज्ञ-चक्र तुम्हारी कामधेनु होवे अर्थात् यह यज्ञ-चक्र ही तुम्हारी सब आवश्यकताओं को पूरी करेगा।

तुम इस यज्ञ से देवताओं को सन्तुष्ट करो और वे देवता तुम्हें सन्तुष्ट करें अर्थात् तुम अपने-अपने हिस्से के कर्त्तव्य-कर्म करने द्वारा समष्टि-आत्मा=परमात्मा की माया रचित इस जगत् रूपी उसके विराट् शरीर को धारण करने वाली उसकी सूक्ष्म दैवी शक्तियों (विभूतियों)—जो समष्टि रूप से जगत् के सब कार्य कर रही हैं— के साथ अपनी-अपनी व्यष्टि शक्तियों के व्यवहारों का योग दो और तुम्हारी सबकी व्यष्टि शक्तियों के व्यवहारों के योग से पूरित हुई वे परमात्मा की समष्टि दैवी शक्तियाँ तुम सबकी आवश्यकताएँ पूरी करें। इस तरह सबके साथ ताल-बद्ध होकर व्यवहार करने द्वारा परस्पर में एक-दूसरे को योग देते हुए और एक-दूसरे की आवश्यकताओं को पूरी करते हुए परम श्रेय को प्राप्त होवो अर्थात् सबके साथ ताल-बद्ध होकर अपने-अपने हिस्से का काम बराबर करते रहने ही से संसार का व्यव-

हार यथावत् चलता रहेगा, जिससे सबको अपनी-अपनी आवश्यक भोग्य सामग्री मिलती रहेगी।

यज्ञ से सन्तुष्ट होकर देवता लोग तुमको तुम्हारे इच्छित भोग देंगे अर्थात् अपने-अपने हिस्से के कर्त्तव्य-कर्म अच्छी तरह पालन करने से जगत् रूपी उसके विराट् शरीर को धारण करने वाली परमात्मा की समष्टि दैवी शक्तियाँ पोषित होकर लोगों के जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करेंगी। परंतु उन्हीं का दिया हुआ पीछा उन्हें दिए बिना जो व्यक्ति सब भोग्य पदार्थ केवल आप ही भोगता है, वह निश्चय ही चोर है अर्थात् संसार के समस्त भोग्य पदार्थ सबकी समष्टि (सम्मिलित) शक्ति से उत्पन्न होते हैं, उन सार्वजनिक पदार्थों को जो अकेला ही अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति के उपयोग में लेकर दूसरों को उनसे वञ्चित रखता है वह सबकी चोरी करता है।

यज्ञ से बचे हुए भाग को ग्रहण करने वाले सज्जन सब पापों से मुक्त हो जाते हैं अर्थात् जो सज्जन (स्त्री हो या पुरुष) संसार चक्र में अपने कर्त्तव्य-कर्म अच्छी तरह पालन करके उनसे प्राप्त होनेवाले पदार्थों को, यथायोग्य दूसरों की आवश्यकताएँ पूरी करते हुए, आप भी अपनी आवश्यकतानुसार भोगते हैं उनको कोई (चोरी आदि का) पाप नहीं लगता। परन्तु जो दूसरों की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके केवल अपने लिए ही पकाते हैं अर्थात् जो केवल अपने व्यक्तिगत शरीर के विषयों की तृप्ति के लिए ही कर्म करते हैं। वे पाप भोगते हैं।

अन्न अर्थात् भोग्य पदार्थों से भूत प्राणी होते हैं; पर्जन्य अर्थात् समष्टि उत्पादन शक्ति से अन्न (भोग पदार्थ) होते हैं; यज्ञ से समष्टि उत्पादन शक्ति होती है और यज्ञ, कर्म से अर्थात् सबके अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्म यथावत् करने से होता है।

कर्म प्रकृति से और प्रकृति, अविनाशी समष्टि-आत्मा=परमात्मा से उत्पन्न हुई जान। इसलिए सर्व-व्यापक आत्मा=परमात्मा ही यज्ञ में अर्थात् संसार-चक्र को चलाने में स्थित है।

इस तरह जगत् के धारणार्थ प्रवृत्त किए हुए इस चक्र, यानी यज्ञ-चक्र के अनुसार जो नहीं वर्तता अर्थात् जो इस संसार के खेल में अपने व्यक्तित्व की और व्यक्तिगत स्वार्थों की सबसे एकता करके अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करता, उसका जीवन पाप-रूप है और उस इन्द्रिय-लम्पट का अर्थात् केवल अपने व्यक्तिगत भौतिक शरीर के विषय भोगों के लिए ही उद्योग करने वाले का, जीना फ़िजूल है यानी उसका मनुष्य (स्त्री या पुरुष का) शरीर व्यर्थ है।

गीता के उपरोक्त श्लोकों का भावार्थ यह है कि चतुर्विध समष्टि अन्तःकरण रूपी चतुर्मुख ब्रह्मा के सङ्कल्प से, सब लोगों की—उनके कर्त्तव्यों सहित—रचना होकर, प्रेरणा हुई कि अपने-अपने कर्त्तव्य यथावत् करते रहने से सब की इच्छाएँ पूरी होकर सबकी वृद्धि होती रहेगी; क्योंकि समष्टि-आत्मा-परमात्मा की दैवी शक्तियाँ जो सूक्ष्म रूप से सब में व्याप्त हैं और जो समष्टि भाव से जगत् रूप बनी हुई हैं वे व्यष्टि भाव में प्रत्येक व्यक्ति में रहती हैं और उनसे ही व्यष्टि व्यवहार होता है और उन व्यष्टि व्यवहारों का सम्मिलित योग ही समष्टि व्यवहार है जिससे सारे जगत् का संचालन होता है। इसलिए सबके अपने-अपने हिस्से के कर्त्तव्य-कर्म यथा-वत् करने रूपी व्यवहार के योग से ही जगत् का समष्टि व्यवहार यथावत् चल सकता है और समष्टि व्यवहार यथावत् चलने ही से व्यक्तियों की इच्छाएँ और आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं।

यज्ञ और देवताओं का खुलासा

यज्ञ और देवताओं की जो व्याख्या ऊपर की गई है वह साधारण लोगों की समझ में शायद ठीक प्रतीत न हो, क्योंकि 'यज्ञ' शब्द का अर्थ

अधिकतर लोग वैदिक कर्म-काण्ड के "हवन" (अग्नि में पदार्थों की आहुति देने) का करते हैं। परन्तु गीता में प्रतिपादित यज्ञ का यह अर्थ नहीं है। अनेकता के भाव से व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए किए जाने वाले वैदिक कर्म-काण्ड का तो गीता के दूसरे अध्याय श्लोक ४२ से ५३ तक में भगवान् ने साफ शब्दों में निषेध कर दिया है, अतः आरम्भ में ही जिस विषय का निषेध कर दिया उसी का पुनः विधान किस तरह हो सकता है। इसके अतिरिक्त यदि यहाँ "यज्ञ" शब्द का अर्थ हवन ही माना जावे तो, तीसरे अध्याय के नवम् श्लोक के अनुसार हवन के सिवाय अन्य—पठन, पाठन, प्रजारक्षण, कृषि, गौरक्षा, वाणिज्य, सेवा, दान, परोपकार आदि के निमित्त किए जाने वाले सभी कर्म बन्धन के हेतु हो जायेंगे, जिनके बिना हवन तो क्या, संसार में किसी का जीवित रहना भी असम्भव हो जायगा, और जगत् का विनाश भगवान् को अभिप्रेत नहीं है (देखो गी० अ० ३ श्लो० २४)। इसके अतिरिक्त, उस समय अर्जुन को यह उपदेश देने का अवसर भी नहीं था कि "हवन के लिए तू कर्म कर" क्योंकि वहाँ तो उसको क्षात्र-धर्म के अनुसार युद्ध करके अपने कर्तव्य पालन करने के उपदेश का प्रसङ्ग था। अतः यहाँ यज्ञ शब्द का अर्थ हवन नहीं हो सकता, किन्तु लोक-संग्रह अर्थात् संसार-चक्र को भली-भाँति चलाने में अपना पार्ट पूरी तरह बजाना ही यज्ञ का एक मात्र ठीक-ठीक अर्थ हो सकता है। तीसरे अध्याय के चौदहवें श्लोक के अन्त में भगवान् ने "......यज्ञ कर्म समुद्भवः।" कह कर यह अर्थ स्पष्ट भी कर दिया है।

इसी तरह "देवता" शब्द का अर्थ भी अधिकतर लोग स्वर्गादि लोकों में बैठे हुए इन्द्रादि देवता समझे हुए हैं। परन्तु तात्विक दृष्टि से विचार कर देखा जाय तो यह अर्थ स्थूल बुद्धि के साधारण लोगों को समझाने के लिए जगत् को धारण करने वाली समष्टि–आत्मा = परमात्मा की समष्टि-सूक्ष्म दैवी शक्तियों का स्थूल रूपक बाँध कर किया गया है। परन्तु जहाँ दर्शनशास्त्रों का तात्विक विचार करना होता है वहाँ इन रूपकों को ही

सत्य मान लेने से सच्चा तथ्य समझ में नहीं आ सकता और वास्तविक सच्ची स्थिति समझे बिना संशयात्मक दशा में जगत् के व्यवहार भी ठीक-ठीक नहीं किए जा सकते। यदि समष्टि–आत्मा = परमात्मा के, इस जगत् रूपी विराट शरीर को धारण करने वाली उसकी समष्टि दैवी शक्तियाँ किसी एक ही स्थान में सीमाबद्ध होकर बैठ जायँ तो वहाँ बैठी हुई वे इस वृहत् ब्रह्माण्ड का सञ्चालन ही कैसे कर सकेंगी? और इन देवताओं को परमात्मा की दैवी शक्तियों से भिन्न कोई और पदार्थ मान नहीं सकते; क्योंकि एक के अतिरिक्त दूसरा कुछ है नहीं। यदि मान भी लें तो सुदूर लोकों में बैठे हुए भिन्न-भिन्न देवताओं को इस लोक में आकर यहाँ के लोगों से भोग्य पदार्थ लेने का क्या अधिकार है और क्या उनको पीछा देने का प्रयोजन है? तथा यहाँ के लोगों को उन दूसरे लोकों में बैठे हुए देवताओं को मान कर उनको सन्तुष्ट करने और उनसे सट्टा भुगताने की आवश्यकता ही क्या है? गीता में स्पष्ट कहा है कि वे देवता तुमको अपने इष्ट पदार्थ देंगे! अतः यदि देवता लोग समष्टि–आत्मा = परमात्मा की दैवी शक्तियों से कोई भिन्न पदार्थ होते तो लोगों को इष्ट पदार्थ देने की उनमें योग्यता कहाँ से आती। इससे यही सिद्ध होता है कि इस जगत्-रूपी विराट शरीर को धारण करने वाली समष्टि–आत्मा = परमात्मा की समष्टि-दैवी शक्तियाँ ही देवता हैं और वे ही सूक्ष्म शक्तियाँ व्यष्टि रूप से प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में हैं और इन व्यष्टि शक्तियों का समष्टि शक्तियों के साथ सहयोग अर्थात् एकतायुक्त व्यवहार करना ही यज्ञ है।

सब भूत प्राणी इस संसार रूपी यज्ञ-चक्र (विराट पहिए) के अङ्ग (पुरज़े) हैं और जैसे किसी मशीन के एक पुरज़े के भी निकम्मे हो जाने से उस मशीन के काम में त्रुटि आ जाती है, उसी तरह इस संसार-चक्र में एक भी प्राणी के कर्त्तव्य पालन न करने से उसमें उतनी ही त्रुटि आ जाती है और उस त्रुटि से सबको कष्ट होता है तथा उस कष्ट के दोष का भागी अपना कर्त्तव्य का पालन न करने वाला प्राणी होता है।

संसार में जितने सचेतन और जड़ पदार्थ हैं वे सब परस्पर में एक दूसरे के उपकार्य-उपकारक अथवा भोक्ताभोग्य (एक दूसरे के उपयोग में आने वाले) हैं एवं अन्योन्याश्रित (एक दूसरे पर निर्भर रहने वाले) हैं। जो व्यक्ति दूसरों का उपभोग करते हैं, उन्हें दूसरों के उपभोग में आना आवश्यक है। यदि वे अपने लिए तो पदार्थों का उपयोग करते रहें और स्वयं उनके उपभोग में आना न चाहें अर्थात् दूसरों से तो कार्य करवाते रहें और स्वयं अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म न करें तो यह समष्टि-आत्मा = परमात्मा की समष्टि दैवी शक्तियों की चोरी है।

ऐसे तामसी अहङ्कार वाले कर्त्तव्य के चोरों से समष्टि-आत्मा = परमात्मा की माया (प्रकृति) ज़बरदस्ती कर्म करवाती है और साथ में उनके पाप का दण्ड भी देती है। क्रिया की प्रतिक्रिया (Action का Reaction) होना अनिवार्य है।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

—गी० अ० १८-५९

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

—गी० अ० १८-६०

अर्थ—तू जो अपने व्यक्तित्व के तामसी अहङ्कार से यह मानता है कि "मैं युद्ध नहीं करूँगा", सो तेरा यह निश्चय व्यर्थ है। क्योंकि प्रकृति अर्थात् तेरा स्वभाव ही तुझसे यह करावेगा।

हे कौन्तेय! मोह अर्थात् तामसी अहङ्कार के वश होकर तू जिसे न करने इच्छा करता है उसे ही तुझे—स्वयं अपने (आत्मा के) स्वभाव से उत्पन्न होने वाले कर्म (प्रकृति) से बद्ध होने के कारण—पराधीन होकर अर्थात् अपनी स्वभाव-जन्य प्रकृति के अधीन होकर करना पड़ेगा।

स्वामी भाव से स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करने चाहिए

यह जगत्, आत्मा के स्वभाव ही से उत्पन्न होने वाली प्रकृति (माया) का खेल है और प्रत्येक व्यक्ति उस (समष्टि) आत्मा = परमात्मा का अंश है; अतः स्वयं अपने रचे हुए (जगत् रूपी) कार्य को—उसके स्वामी भाव से—अवश्य चलाना चाहिए। इस तरह चलाने से कोई बन्धन या दुःख प्रतीत नहीं होता। परन्तु स्थूल शरीर में ही अहंभाव के तामसी अहङ्कार के वश होकर यदि स्वयं अपने रचित कार्य को—अपने ही राजस-तामस भावों से—दुःख रूप या बन्धन रूप मान कर उससे अलग होने की चेष्टा की जाय अथवा उसकी उपेक्षा करके उसे बिगाड़ दिया जाय तो अपने ही भावों से वह दुःख और बन्धन-रूप हो जाता है जिससे छुटकारा पाना असम्भव हो जाता है। इसलिए इस जगत् रूपी स्वाधीन राष्ट्रीय-राज्य में अपने-आपको उस राष्ट्र का एक मेम्बर (अङ्ग) समझ कर, स्वयं अपने ज़िम्मे ली हुई ड्यूटी को—उसका स्वामी होकर—स्वतन्त्रतापूर्वक अच्छी तरह बजाना चाहिए।

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्म फल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
>
> —गी० अ० २-४७

अर्थ—कर्म में तेरा अधिकार है, फल में कदापि नहीं; फल अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए तू कर्म मत कर और कर्म न करने की व्यक्तिगत अहङ्कार की आसक्ति भी मत रख। अर्थात् कर्म रूप जगत् सब तेरे ही समष्टि भाव की प्रकृति का खेल होने से उस पर तेरा अधिकार है यानी तू इसका अधिपति है। परन्तु इस खेल से उत्पन्न होने वाले नाना भाँति के कल्पित सुख दुःखादि द्वन्द्वों का कुछ भी प्रभाव तुझ पर नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि यह सब तेरी ही रचना है; अतः इन पर कुछ भी लक्ष्य मत रख और

इन नाना भाँति के कल्पित सुख दुःखादि द्वन्द्वों से व्याकुल होकर अपने इस खेल को छोड़ कर बिगाड़ देना भी तेरी महिमा के प्रतिकूल है। सारांश यह कि तू अपनी प्रकृति (माया) के इस खेल में द्वैत भाव की आसक्ति छोड़, जगत् के अधिपति रूप से कार्य्य करता रह।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

—गी० अ० २-४८

अर्थ—"मैं करता हूँ; मेरे कर्म हैं; 'अमुक कर्म का मुझे अमुक फल मिलेगा"—इस तरह के व्यक्तिगत अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ का भाव छोड़ कर, कर्म की सफलता और असफलता में निर्विकार रहता हुआ, योग-युक्त होकर अर्थात् सर्वात्म साम्य भाव में जुड़ कर कर्म कर—साम्य भाव ही योग है।

जिस तरह एक स्वाधीन राष्ट्र का मेम्बर सर्वथा स्वतन्त्र रहता हुआ अपने राष्ट्रीय राज्य के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करता है और यदि वह अपना कर्त्तव्य उचित रीति से पालन न करे तथा दूसरों के स्वत्वों को हानि पहुँचावे तो वह परतन्त्र होकर राष्ट्रपति से दण्डित होता है; उसी तरह इस संसार रूपी राष्ट्र में अपने कर्त्तव्यों का स्वामी होकर स्वाधीनतायुक्त व्यवहार करने चाहिए, नहीं तो विवश होकर दास-भाव से करने पड़ेंगे।

ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

—गी० अ० १८-६१

अर्थ—हे अर्जुन! समष्टि=आत्मा=ईश्वर सर्व भूत प्राणियों के हृदय में रहता है और अपनी माया से सब भूत प्राणियों को यन्त्र पर चढ़े हुओं की तरह घुमाता है।

अपने व्यक्तित्व को जगत् से पृथक् मानने के तामसी अहङ्कार से तथा

केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ में ही आसक्त हो जाने से परतन्त्रता या दासता उत्पन्न होती है; परन्तु जहाँ व्यक्तित्व का भाव नहीं और व्यक्तिगत स्वार्थ में आसक्ति नहीं, किन्तु सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव से व्यवहार किया जाता है, वहाँ सदा स्वाधीनता है। आत्मा तो स्वभाव से ही स्वतन्त्र है; अतः प्रकृति का स्वामी बनना अथवा दास बनना अपने ही अधीन है। सर्वत्र एक ही आत्मा = परमात्मा व्यापक होने के साम्य भाव से व्यवहार करने पर कोई दासता या पराधीनता का बन्धन नहीं होता; किन्तु इस तरह व्यवहार करने वाला महापुरुष स्वयं प्रकृतिका स्वामी—ईश्वर रूप हो जाता है और उसी की प्रेरणा से भूत प्राणी नाना प्रकार की चेष्टाएँ करते हैं।

> तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
> तत्प्रसादात्परांशान्तिं स्थानं प्राप्स्यसिशाश्वतम् ॥
>
> —गी० अ० १८-६२

अर्थ—इसलिए हे भारत! तू सब प्रकार से उसकी शरण में जा अर्थात् अपने और सबके हृदय में स्थित समष्टि-आत्मा = परमात्मा से यानी अखिल ब्रह्माण्ड से अपनी एकता का अनुभव कर। उसकी प्रसन्नता से तुझे परम शान्ति तथा शाश्वत स्थान प्राप्त होगा अर्थात् (आत्मा-परमात्मा की) यानी सारे विश्व की एकता का अनुभव करते हुए संसार के व्यवहार यथावत करते रहने से अन्तःकरण में प्रसन्नता होकर परम शान्ति और अनन्त सुख प्राप्त होगा, फिर किसी प्रकार का बन्धन नहीं रहेगा।

सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव से व्यवहार करने का महत्त्व

यह समत्व योग अर्थात् एक आत्मा को सब में समान-रूप से व्यापक जान कर सबसे प्रेमयुक्त व्यवहार करना एक बार आरम्भ कर देने पर

फिर छूटता नहीं, किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है और न इससे किसी प्रकार की हानि या अनिष्ट ही होता है, किन्तु इसके थोड़े आचरण से थोड़ा और अधिक से अधिक सुख अवश्य प्राप्त होता है। यह समत्व योग यानी व्यावहारिक वेदान्त सब धर्मों से श्रेष्ठ, सबके लिए समान हितकर, सबको इसका समान अधिकार, अत्यन्त विशाल, सबसे अधिक सूक्ष्म अर्थात् सबका सार और सर्वव्यापक है। इसका जितना अधिक आचरण किया जाय उतना ही अधिक लाभ होता है अर्थात् जितने देश और जितने व्यक्तियों के साथ और जितने समय के लिए एकता के प्रेमभाव से व्यवहार किया जाता है उतनी ही सुख-समृद्धि प्राप्त होती है। केवल व्यक्तियों के लिए ही नहीं, किन्तु राष्ट्र और जातियों के लिए भी यही सिद्धान्त लागू है। जो राष्ट्र और जाति परस्पर में तथा दूसरों के साथ जितना ही अधिक एकता का व्यवहार करती है अर्थात् उसकी एकता का क्षेत्र जितना ही अधिक विस्तृत होता है उतना ही अधिक वह राष्ट्र या जाति शक्तिशाली, उन्नत, सुख-समृद्धि सम्पन्न और स्वाधीन होती है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

—गी० अ० २·४०

अर्थ—इस समत्व बुद्धि से किए जाने वाले कर्मयोग का एक बार आरम्भ कर देने पर फिर उसके फल का नाश नहीं होता अर्थात् जिस समय एक परमात्मा सब में समान भाव से व्यापक होने के ऐक्य भाव से जगत् के व्यवहार करना आरम्भ किया जाता है उसी समय से उसके फल—आत्मस्वतन्त्रता—का अनुभव होने लगता है और अभ्यास बढ़ते-बढ़ते अन्त में सर्वात्मभाव होकर पूर्ण स्वतन्त्रता या जीवन-मुक्ति प्राप्त हुए बिना नहीं रहती; इसमें किसी प्रकार की त्रुटि, भूल या कमी रह जाने से कोई उलटा फल भी नहीं होता अर्थात् दूसरे धर्मों की तरह इसमें ऐसी सामग्रियों के

जुटाने की आवश्यकता नहीं है और न कोई ऐसी क्रिया या विधि ही है कि जिनके पूर्ण न होने से पीछा गिरना पड़े, किन्तु इसमें एक बार लगने से उत्तरोत्तर उन्नति होती है; और इस धर्म का थोड़ा-सा भी आचरण महान भय से रक्षा करता है अर्थात् पहले थोड़े लोगों से यानी अपने कुटुम्ब, जाति, ग्राम या देश के साथ एकता के प्रेम भाव से जुड़कर व्यवहार करने से भी इतना आत्मबल आ जाता है कि किसी प्रकार का भय नहीं रहता; अतः इस धर्म का थोड़ा भी आचरण करने वाला निर्भय हो जाता है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

—गी० अ० ९-२

अर्थ—यह ज्ञान और विज्ञान सहित अर्थात् अध्यात्म ज्ञान-युक्त, व्यवहार करने का समत्व योग यानी व्यावहारिक वेदान्त, राज-विद्या है अर्थात् सब विद्याओं का राजा, श्रेष्ठ, सार्वभौम, राज-मार्ग की तरह सर्वोपयोगी, सार्वजनिक, अत्यन्त विशाल और सबके सेवन करने योग्य है यानी इसका व्यवहार सबके लिए खुला होने से इस पर सबका अधिकार है=इसलिए यह राज-विद्या है; यह समत्व योग राज गुह्य अर्थात् सबसे अधिक गहन और सूक्ष्मतम यानी सबका सार होने से अत्यन्त गुप्त (सूक्ष्म) रूप से सर्वव्यापक है=इसलिए यह राज गुह्य है; यह समत्व योग सबसे पवित्र और उत्तम है अर्थात् इससे द्वैत भाव के व्यक्तिगत अहङ्कार से उत्पन्न होने वाले सब पापों की निवृत्ति होकर शुद्धि होती है और इसके आचरण से अधम-से-अधम दुराचारी भी सुधार कर पवित्र और उत्तम बन जाता है=इसलिए यह सबसे पवित्र और उत्तम है; यह समत्व योग प्रत्यक्ष फल देने वाला नकद धर्म है अर्थात् इसके फल—सब प्रकार के बन्धनों से मुक्ति अर्थात् स्वतन्त्रता या स्वाधीनता—के लिए किसी समय, स्थान या पदार्थ अथवा किसी दूसरे जन्म की प्रतीक्षा करनी नहीं पड़ती, किन्तु जिस क्षण दूसरों के साथ एकता

का प्रेम-भाव उत्पन्न हुआ उसी क्षण राग-द्वेष से मुक्ति हो जाती है और जिनसे एकता का भाव हो जाता है उनकी सब शक्ति और सम्पत्ति अपनी बन जाती है, अतः राग, द्वेष, ईर्षा और दीनता आदि के दुःख तुरत मिट जाते हैं— इसलिए यह प्रत्यक्ष ही फल देने वाला है; यह समत्व योग धर्म-रूप है अर्थात् यह विश्व-धर्म होने से सब धर्मों का इसमें समावेश हो जाता है; अतः यह सच्चा धर्म है; इस समत्व योग का आचरण सुख-साध्य है अर्थात् इसके आचरण करने में किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट या परिश्रम नहीं होता, न किसी सामग्री के जुटाने की ही आवश्यकता पड़ती है, केवल समझने मात्र ही से यथावत् आचरण होने लगता है; और यह समत्व योग अव्यय है अर्थात् सदा एक-सा रहने वाला है, घटता-बढ़ता नहीं और इसका फल अनिवार्य्य है।

इस साम्य भाव के व्यवहार से पूर्ण स्वाधीनता अवश्यम्भावी है।

इस तरह समत्व बुद्धि से व्यवहार करना आरम्भ करने के बाद उसमें पूर्ण कुशलता प्राप्त होने के पहले ही यदि शरीर पात हो जाय तो भी इसमें लगा हुआ व्यक्ति दूसरा जन्म इससे भी अच्छे कुल और अच्छी परिस्थिति में लेता है और वहाँ के संस्कारों से वहाँ फिर उसी समत्वयोग में आगे बढ़ता हुआ समय पाकर सर्वात्म भाव प्राप्त करके मुक्त हो जाता है अर्थात् आत्मा-परमात्मा यानी सब की एकता का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है। सारांश यह कि साम्य बुद्धि से व्यवहार करने में लगा हुआ व्यक्ति उत्तरोत्तर उन्नत ही होता है, कभी अवनत नहीं होता।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥

—गी० अ० ६.४०

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योग भ्रष्टोऽभिजायते ॥
—गी० अ० ६-४१

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥
—गी० अ० ६-४२

तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते पौर्व देहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥
—गी० अ० ६-४३

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥
—गी० अ० ६-४४

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥
—गी० अ ६-४५

तपस्विभ्योऽधिकोयोगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
—गी०अ० ६-४६

अर्थ—हे पार्थ ! क्या इस जन्म और क्या दूसरे जन्म में, ऐसे व्यक्ति का अर्थात् साम्य भाव से व्यवहार करने में लगे हुए व्यक्ति का कभी विनाश नही होता; क्योंकि कल्याणकारक कर्म करने वाले किसी भी व्यक्ति की दुर्गति नहीं होती।

पुण्य करने वाले व्यक्तियों को मिलने वाले उच्च लोकों को प्राप्त होकर, वहाँ बहुत वर्षों तक निवास करके, फिर वह योग भ्रष्ट अर्थात् साम्य भाव से

कर्म करने में पूर्ण कुशलता प्राप्त किए बिना ही मर जाने वाला व्यक्ति, पवित्र श्रीमानों के घर में जन्म लेता है अथवा बुद्धिमान कर्मयोगियों (समत्व बुद्धि से व्यवहार करने वालों) के कुल में जन्म लेता है। इस प्रकार का जन्म इस लोक में बड़ा ही दुर्लभ है।

वहाँ (अर्थात् पवित्र श्रीमानों के अथवा बुद्धिमान कर्मयोगियों के घर में जन्म लेकर) उसको अपने पूर्व जन्म में प्रारम्भ किए हुए साम्य बुद्धियुक्त व्यवहार करने के संस्कारों की स्फुर्णा हो आती है और हे कुरुनन्दन ! वह उससे आगे बढ़ता हुआ सिद्धि पाने का अर्थात् आत्मज्ञान की पूर्णावस्था को प्राप्त करने का फिर प्रयत्न करता है।

अपने पूर्व जन्म के उस अभ्यास के कारण वह पूर्ण सिद्धि की ओर स्वतः ही खींचा जाता है; अतः जिसको समत्व योग की अर्थात् साम्य भाव में जुड़ने की जिज्ञासा यानी प्रबल इच्छा भी हो जाती है वह व्यक्तिगत स्वार्थ के लौकिक फलों को देने वाले कर्मकाण्ड-मय वेदों को उल्लंघन कर जाता है अर्थात् वैदिक कर्म-काण्ड से ऊपर उठ जाता है।

इस प्रकार प्रयत्न पूर्वक उद्योग करते-करते पापों से शुद्ध होकर अर्थात् व्यक्तिगत तामसी मलिन अहङ्कार से मुक्त होकर वह समत्व बुद्धि से कर्म करने वाला कर्मयोगी अनेक जन्मों में उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ अन्त में परम गति को पहुँच जाता है अर्थात् आत्मा-परमात्मा की एकता का दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर पूर्ण स्वाधीन या मुक्त हो जाता है।

तपस्वियों से अर्थात् व्रत उपवासादि तथा हठयोग के साधन एवं शरीर को कष्ट देने वाली अन्य क्रियाएँ करने वाले तपस्वियों से योगी अर्थात् समत्व बुद्धि से संसार का व्यवहार करने वाला श्रेष्ठ है; ज्ञानी अर्थात् व्यवहार में एकात्म भाव का कुछ भी उपयोग न करके, कोरी ज्ञान की बातें बनाने और पुस्तक पढ़ कर केवल शास्त्रार्थ करने वाले शुष्क ज्ञानियों की अपेक्षा समत्व बुद्धि से संसार का व्यवहार करने वाला कर्मयोगी श्रेष्ठ समझा जाता है और अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कर्म करने वाले अर्थात् श्रौत-स्मार्त एवं पौरा-

णिक कर्म-काण्डियों की अपेक्षा भी समत्व बुद्धि से व्यवहार करने वाला कर्मयोगी श्रेष्ठ है। इसीलिए हे अर्जुन ! तू योगी अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव से संसार के व्यवहार करने वाला कर्मयोगी बन।

इस तरह व्यवहार न करने से दुर्दशा

सब के हृदय में स्थित, सबके आत्मा, प्रकृति के स्वामी, सहायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के इस सार्वभौम, प्राणी मात्र के लिए सदा इकसार उपयोगी एवं सनातन उपदेश के अनुसार जो व्यवहार करते हैं, वे सब प्रकार के बन्धनों से छूट कर स्वतंत्र एवं मुक्त हो जाते हैं; परन्तु जो इसके विपरीत व्यवहार करते हैं उनकी दुर्दशा होती है।

> मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यास्याध्यात्म चेतसा।
> निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
>
> —गी० अ० ३-३०

अर्थ—मुझमें अध्यात्म बुद्धि से सब कर्मों का संन्यास करके अर्थात् सब में एकात्म दृष्टि-रूप समत्व बुद्धि से, किसी भी प्रकार के फल की आशा एवं ममता छोड़ कर, प्रसन्नतापूर्वक युद्ध कर अर्थात् अद्वैत भाव से, अपने प्रथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार और अपने पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थों का सबसे एकता करके, सबके हित के लिए अपने कर्त्तव्य-कर्म कर।

> ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
> श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
>
> —गी० अ० ३-३१

> ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
> सर्व ज्ञान विमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥
>
> —गी० अ० ३-३२

अर्थ—जो श्रद्धा* युक्त होकर विना अवज्ञा (तिरस्कार) के मेरे इस नित्य अर्थात् सर्वकाल, सर्वदेश, सर्वव्यक्तियों के समान उपयोगी सनातन मत के अनुसार व्यवहार करते हैं वे सब कर्मों के बन्धनों से छूट जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं। परन्तु जो दोष-दृष्टि से शङ्काएँ करके मेरे इस सनातन मत के अनुसार नहीं बर्तते अर्थात् आत्मनिष्ठ साम्य बुद्धि से अपने कर्त्तव्य कर्म नहीं करते उन, सम्पूर्ण ज्ञान से विमूढ़ अर्थात् पक्के मूर्ख अविवेकियों को नष्ट हुए समझो।

---

* श्रद्धा का खुलासा इस पुस्तक के तीसरे प्रकरण में देखिए।

दूसरा प्रकरण

दूसरा प्रकरण

—✥—

मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के आत्म-विकाश की पाँच प्रधान श्रेणियाँ

मनुष्य-देह में आत्म-विकास के अनन्त दर्जे हैं, परन्तु उनके पाँच प्रधान विभाग किये जा सकते हैं।

(१) सब से नीची श्रेणी में बहुत ही अल्प आत्म-विकास वाले जड़ प्रकृति के स्त्री-पुरुष हैं, जो खनिज वर्ग में रक्खे जा सकते हैं। इनका दायरा (कार्य-क्षेत्र) केवल अपनी देह तक ही परिमित रहता है। इन पेट-पालू लोगों को अपने स्थूल शरीर के आधिभौतिक सुख-दुःख आदि के सिवाय दूसरी किसी बात से कोई प्रयोजन नहीं। अपने शरीर के विषय-भोगों के लिए दूसरों को चाहे कितना ही कष्ट क्यों न हो, इन को इसकी कुछ भी परवाह नहीं रहती। दूसरों के सुख-दुःख से इनको कोई वास्ता नहीं। केवल अपने स्थूल शरीर और अपने व्यक्तित्व को ही सब कुछ मानने वाले ये पाषाण प्रकृति के स्त्री-पुरुष—खनिज पदार्थों में चाँदी, सोना, हीरा, माणिक, मोती आदि क़ीमती वस्तुओं की तरह—चाहे धन-कुबेर एवं राजा-बादशाह ही क्यों न हों अथवा विद्वान्, पण्डित, साम्प्रदायिक आचार्य या यती-संन्यासी ही क्यों न हों, वे हैं खनिज वर्ग के ही। इन लोगों को लट्टू की उपमा दी जा सकती है, जो अपने शरीर के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटता रहता है। ये लोग अपने शरीर के रूप, यौवन, बल, बुद्धि, विद्या, ज्ञान, चतुराई, मान, मर्यादा, पद, प्रतिष्ठा, बड़प्पन, पवित्रता, कुलीनता एवं धार्मिकता आदि का बड़ा घमण्ड रखते हैं और इन उपाधियों के

घमण्ड में बहुत ही सङ्कीर्ण शारीरिक नियमों का पालन करके दूसरे लोगों का तिरस्कार करते तथा कष्ट देते हैं और स्वयं भी दूसरों से तिरस्कृत हो कर कष्ट पाते हैं। शरीर में अत्यन्त आसक्ति रख कर ये लोग अपने लिए इतने बन्धन और रोगादि उत्पन्न कर लेते हैं कि दूसरों के अधीन होकर अपनी व्यक्तिगत स्वाधीनता एवं शारीरिक सुखों से वञ्चित हो जाते हैं। यदि वे लोग पारलौकिक सुखों की इच्छा करते हैं तो वह भी केवल अपने व्यक्तित्व के लिए ही।

(२) दूसरी श्रेणी के लोग वनस्पति वर्ग के कहे जा सकते हैं। पहली श्रेणी वालों से इन में कुछ अधिक आत्म-विकास होता है और इनका दायरा (कार्यक्षेत्र) कुछ विस्तृत हो कर अपने कुटुम्ब तक परिमित रहता है। इन लोगों को अपने शरीर और कुटुम्ब के सिवाय और कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता। ये लोग अपने शरीर के अतिरिक्त अपने कुटुम्ब के आधिभौतिक सुखों के लिए भी दौड़-धूप करते रहते हैं और उनके स्वार्थों के लिए दूसरों को हानि पहुँचाने में कुछ भी आना-कानी नहीं करते। इन्हें कोल्हू के बैल की उपमा दी जा सकती है। जिस तरह कोल्हू के बैल का दायरा यद्यपि लट्टू से विस्तृत होता है, परन्तु वह कोल्हू के इर्द-गिर्द ही घूमता रहता है; उसी तरह कुटुम्ब-पालक का दायरा यद्यपि पेट-पालू से बड़ा होता है, परन्तु है वह अपने कुटुम्ब तक ही परिमित। ये लोग अपने कुटुम्ब के धन-बल, जन-बल, मान, प्रतिष्ठा, उच्चता, कुलीनता एवं पवित्रता आदि का बहुत घमण्ड करते हैं और इन बातों के अहङ्कार से दूसरों के साथ घृणा करने, दूसरों को नीचा दिखाने तथा कष्ट देने वाली अत्यन्त संकुचित कौटुम्बिक व्यवस्थाएँ बाँध कर उनका कट्टरता से आचरण करके स्वयं कष्ट उठाते हैं और दूसरों को कष्ट देते हैं। इस तरह अपने कुटुम्ब ही में आसक्ति रखने वाले लोग इन कौटुम्बिक मर्यादाओं से बँधे हुए दूसरे कुटुम्ब वालों से सदा सशंकित और कौटुम्बिक परतन्त्रताओं में जकड़े हुए रहते हैं।

(३) तीसरी श्रेणी के लोग पशु-वर्ग के हैं। इनमें प्रथम और द्वितीय श्रेणी वालों से कुछ अधिक आत्म-विकाश होता है और इनका दायरा (कार्य्यक्षेत्र) अपनी जाति या समाज तक परिमित होता है। ये लोग अपने शरीर, कुटुम्ब और जाति या समाज को ही सब कुछ मानते हैं; इनके सिवाय दूसरों से इनका ममत्व नहीं रहता। इनके स्वार्थों के लिए दूसरों को हानि या कष्ट पहुँचाना ये लोग नीति-सम्मत मानते हैं। इन समाज-सेवियों को घुड़दौड़ के घोड़े की उपमा दी जा सकती है। जिस प्रकार घुड़दौड़ के घोड़े का दायरा (कार्यक्षेत्र) यद्यपि लट्टू और कोल्हू के बैल से बड़ा होता है, परन्तु वह घुड़दौड़ के मैदान के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटता रहता है; उसी प्रकार इन समाज-सेवियों का दायरा यद्यपि पेट-पालू और कुटुम्ब-पालक से बड़ा होता है, परन्तु है वह समाज-सेवा तक ही सीमा-बद्ध। ये लोग अपनी जाति या समाज के धन-बल, जन-बल, मान, प्रतिष्ठा, पवित्रता कुलीनता एवं सामाजिक मर्यादाओं की धार्मिकता आदि का बहुत घमण्ड करते हैं और इन बातों के अहङ्कार से दूसरे समाज के लोगों के साथ घृणा करने, दूसरों को नीचा दिखाने तथा कष्ट देने वाली अत्यन्त सङ्कीर्ण सामाजिक मर्यादाओं की व्यवस्थाएँ बाँध कर उनका कट्टरता से आचरण करके स्वयं कष्ट उठाते हैं और दूसरों को कष्ट देते हैं। इस तरह अपने समाज ही में आसक्ति रखने वाले ये लोग सामाजिक परतन्त्रताओं से बँधे हुए, दूसरे समाजवालों से सदा सशङ्कित एवं सामाजिक परतन्त्रताओं से जकड़े हुए रहते हैं।

(४) चौथी श्रेणी के लोग मनुष्य प्रकृति के हैं। इनमें प्रथम तीन श्रेणियों से अधिक आत्म-विकाश होता है, अतः ये उनसे उच्च कोटि के हैं। इनका दायरा (कार्यक्षेत्र) अपने देश तक परमित होता है अर्थात् अपने देश ही को ये लोग सब कुछ मानते हुए, उसके लिए दूसरे देशों के लोगों को कष्ट देना और हानि पहुँचाना सर्वथा न्याय समझते हैं। इनको चन्द्रमा की उपमा दी जा सकती है चन्द्रमा

का दायरा यद्यपि लट्टू, कोल्हू के बैल और घुड़दौड़ के घोड़े से बहुत ही अधिक विस्तृत है, परन्तु वह पृथ्वी के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटता रहता है। इसी तरह देशभक्तों का दायरा यद्यपि पहले तीनों से बड़ा होता है परन्तु अपने देश तक ही परिमित रहता है। अपना देश दूसरों से अधिक धन, जन एवं शक्ति-सम्पन्न, उन्नत, पवित्र, प्रतिष्ठित एवं धार्मिक होने का घमण्ड करके ये लोग दूसरे देशवासियों का तिरस्कार करते हैं; उनको दबाते और उनके साथ ईर्षा करते हैं। इस तरह अपने देश ही में आसक्ति रखने वाले लोग दूसरे देशवासियों से सदा सशंकित और दबे हुए रहते हैं।

(५) पाँचवीं श्रेणी के लोग मनुष्य कोटि से ऊँचे, देव कोटि के होते हैं। इनका आत्म-विकाश सबसे अधिक होता है और इनकी बुद्धि महान् हो जाती है। इनका (कार्यक्षेत्र) बे-हद अर्थात् सम्पूर्ण विश्व तक फैला हुआ होता है। इनकी किसी व्यक्ति समुदाय या देश-विशेष ही में ममत्व की आसक्ति नहीं रहती; किन्तु समस्त भूतप्राणियों की भलाई के लिए ये लोग प्रयत्न करते रहते हैं और सब की सेवा करना अपना कर्तव्य समझते हैं। शारीरिक एवं मानसिक विषम आचरणों के कारण प्राणियों को जो अनेक प्रकार के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक क्लेश होते हैं—समता के उपचार से—ये महापुरुष उनका निवारण करने का प्रयत्न करते रहते हैं। इनको सूर्य्य की उपमा दी जा सकती है; क्योंकि सूर्य्य के समान स्थित होकर ये लोग सबका एक समान हित करते हैं।

सब से निम्न श्रेणी—खनिज वर्ग के लोगों में तमोगुण (जड़ता) की अधिकता रहती है, सतोगुण बहुत ही कम। और ऊपर की श्रेणियों में ज्यों-ज्यों आत्म-विकाश बढ़ता है, उसी के अनुसार उत्तरोत्तर सतोगुण बढ़ता और तमोगुण कम होता जाता है; परन्तु किसी भी गुण का सर्वथा अभाव, किसी भी दशा में, किसी भी व्यक्ति में नहीं होता; केवल न्यूना-

धिक्य का तारतम्य रहता है। फलतः निम्न श्रेणी के लोगों में भी तारतम्य से कुछ-न-कुछ भाव ऊपर की श्रेणियों के अवश्य रहते हैं; इसी तरह ऊपर की श्रेणी वालों में भी व तारतम्य से निम्न श्रेणियों के भाव रहते हैं। यद्यपि खनिजवर्ग के देहवादियों में विश्व-प्रेम तक के भाव मौजूद तो रहते हैं, तथापि वे इतने अल्प और अविकसित होते हैं कि प्रत्यक्ष में प्रतीत नहीं हो सकते। इसी तरह देव-वर्ग के महान् पुरुष भी अपने शरीरों से भी प्रेम करते हैं, परन्तु उनमें सतोगुण इतना बढ़ा हुआ रहता है कि किसी शरीर विशेष ही में उनकी आसक्ति नहीं होती; अतः व्यक्तिगत शरीरों के प्रति उनका विशेष प्रेम प्रतीत नहीं होता।

तमोगुण जड़ात्मक है, रजोगुण राग और क्रियात्मक एवं सतोगुण सुख और ज्ञानात्मक है। सतोगुण से मनुष्य उन्नति करता है, तमोगुण से गिरता है और रजोगुण दोनों के बीच में रहकर चढ़ाने-गिराने की क्रिया कराता है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

—गी० अ० १४-१८

अर्थ—सतोगुण का सेवन करने वाले ऊपर को उठते हैं, रजोगुणी बीच में ठहरते हैं और कनिष्ठ तमोगुण का सेवन करने वाले नीचे गिरते हैं।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को सात्विक आचरणों से अपने में सतोगुण बढ़ाते हुए उन्नति करने और आगे बढ़ने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। चाहे खनिज-वर्ग का व्यक्ति हो या वनस्पति-वर्ग का; पशु-वर्ग हो या मनुष्य-वर्ग—सबको निरन्तर आगे ही बढ़ते रहना चाहिए। चाहे देव-वर्ग का व्यक्ति हो क्यों न हो, किसी एक स्थिति में ठहर जाना उसके लिए भी पतनकारक है। एक अवस्था में पड़े रहना ही जड़ता अथवा तमोगुण है, अतः ठहरने से गिरावट होती है। रजोगुण क्रियाशील होने से अपना

कार्य निरन्तर करता ही रहता है। यदि आगे बढ़ने का प्रयत्न किया जाय तो बढ़ने में सहायक होता है—नहीं तो पीछे गिरा देता है। ऊपर उठने में प्रयत्न करने की आवश्यकता रहती है, गिरना तो प्रयत्न के बिना ही हो जाता है।

> रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
> रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥
>
> —गी० अ० १४-१०

अर्थ—रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्व अधिक होता है और रज एवं सत्व को दबा कर तम अधिक होता है; इसी प्रकार तम और सत्व को दबा कर रज अधिक होता है।

इसलिए प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति को अपने आचरणों को सात्विक बना कर आगे बढ़ने में तत्पर रहना चाहिए। अपने-अपने वर्ग के उपयुक्त आचरणों को सात्विक बना कर ही प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्रमोन्नति करता हुआ बिना रुकावट के अन्तिम दर्जे (परमात्म-भाव) तक पहुँच सकता है। यदि आचरण सात्विक बनाने का प्रयत्न नहीं किया जाय तो तमोगुण की वृद्धि होकर ऊपर चढ़े हुओं की भी पीछी गिरावट हो जाना अवश्यम्भावी है; अतः चढ़ना और गिरना अपने ही अधिकार में है।

> उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत।
> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
>
> —गी० अ० ६-५

अर्थ—अपना उद्धार आप ही करें, अपने आपको गिरने न दें, क्योंकि आप ही अपना बन्धु और आप ही अपना शत्रु है।

प्रथम श्रेणी अर्थात् खनिज-वर्ग के मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के सात्विक आचरण

स्वतन्त्रता या मुक्ति की इच्छा रखने वाले खनिज-वर्ग के स्त्री-पुरुषों को अपने शरीर के आचरण सात्विक बनाना चाहिए। क्योंकि इस शरीर में रह कर ही मनुष्य (स्त्री-पुरुष) जीवात्मा-परमात्मा अर्थात् व्यष्टि-समष्टिकी एकता का अनुभव प्राप्त कर सकता है। और इस शरीर द्वारा ही मनुष्य (स्त्री-पुरुष) संसार-रूपी नाटक का खेल सब के साथ एकता के प्रेम ※ भावयुक्त करके स्वतन्त्रता अथवा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। शरीर की स्वाभाविक आवश्यकताओं तथा प्राकृतिक वेगों को सम ※ आहार और सम ※ विहार द्वारा शान्त करके, शीत, उष्ण, रोग, विपत्तियों आदि से उसकी रक्षा करके तथा शुद्ध वायु में, साफ़ सुथरा रख कर उसे आरोग्य, सुदृढ़ एवं बलवान बना कर दीर्घजीवी बनाना चाहिए, जिससे उसके द्वारा सात्विक आचरण होकर शारीरिक बन्धनों से छुटकारा मिले।

आहार

आहार सात्विक—शरीर को पोषण करने एवं उसे आरोग्य, बलवान तथा सुदृढ़ बनाए रखने की दृष्टि से करना चाहिए, न कि केवल जिह्वा के स्वाद के लिए जिह्वा के स्वाद को गौण मान कर, जहाँ तक बन सके, सादा और सम भोजन करना चाहिए। आयु, विवेक-शक्ति, बल, आरोग्यता, सुख और प्रीति बढ़ाने वाले (अर्थात् खाने के बाद जिनसे अजीर्ण आदि रोग, दुःख और अरुचि पैदा न हो। किन्तु सब प्रकार से आराम मिले); रसदार चिकने; अधिक ठहरने वाले; हृदय को शक्ति देने वाले; शुद्ध किए हुए तथा अच्छी तरह पकाये हुए; युक्त अर्थात् जितना आराम के साथ पच जाय उतनी मात्रा में नियमित समय पर खाना सात्विक आहार है।

※ तृतीय प्रकरण में प्रेम और समता का खुलासा देखिए।

रजोगुणी-तमोगुणी आहार भरसक न खाना चाहिए। अति कड़वे; अति खट्टे, अति खारे अति गर्म (जलते हुए) अति तीखे; अति रूखे; दाह उत्पन्न करने वाले; जिनके खाने से दुःख, शोक और रोग उत्पन्न हों (अर्थात् अधिक मात्रा में तथा अनियमित रूप से अनेक बार असमय में खाना); दुःख से बचने वाले; बासी; नीरस; दुर्गन्धयुक्त; एक से अधिक बार संस्कार किए हुए; जूठे; बुद्धि को हानि पहुँचाने वाले और मैले आहार राजसी-तामसी होते हैं।

जल पवित्र, साफ़, छना हुआ, मीठा, न अति ठण्डा और न उष्ण पीना चाहिए।

किसी प्रकार का व्यसन—मादक पदार्थ धूम्रपान, सुरती, तम्बाकू आदि; बीमारी के बिना चाय, काफ़ी, बर्फ, लेमनेड, सोडा-वाटर आदि तथा अनजानी विदेशी खाने-पीने की चीजें एवं बिना रोग के औषधि-सेवन आदि से सर्वथा बचे रहना चाहिए।

यह बात सभी बुद्धिमान लोग मानते हैं कि आहार-विहार का प्रभाव मनुष्य की बुद्धि पर अवश्य ही पड़ता है। आर्य्य-संस्कृति तो यहाँ तक मानती है कि नीति से उपार्जन किया हुआ आहार बुद्धि को शुद्ध रखता है और अनीति से किया हुआ आहार उसको मलिन करता है। तात्पर्य यह कि आहार शुद्धि को हमारे यहां बहुत ही महत्त्व दिया गया है और खाने-पीने के लिए मुँह पर एक प्रकार से मोहर-सी लगाई हुई रखना आवश्यक समझा गया है। सात्विक आहार से बुद्धि निर्मल होती है और राजस-तामस से मलिन, परन्तु वर्तमान में बुद्धि पर प्रभाव पड़ने का सूक्ष्म विचार तो छूट गया और उसके स्थान में रूढ़िवाद पर अन्धश्रद्धा रखनेवाले लोग छूआछूत, कच्ची-पक्की, जाति-पांति आदि के स्थूल विचारों तथा युक्तों के प्रमाणों पर ही शुद्धि-अशुद्धि का निर्णय करने लगे, जिससे आहार की शुद्धि के बदले उसमें महान् अशुद्धि होकर इतनी विषमता आ गई कि बुद्धि सदा मलिन रहने लगी और शरीर अनेक प्रकार के रोगों

का निवास-स्थान हो गया। लोगों ने खाने-पीने में इतनी अनावश्यक संकीर्णता करली कि जिससे वे संसार के व्यवहार अच्छी तरह करने लायक़ ही नहीं रहे, अर्थात् भिन्नता के भावों की वृद्धि होकर इन लोगों का आपस का प्रेम और एकता जड़ से उखड़ गई, जिससे दूसरे लोगों की प्रतिद्वन्द्विता में ठहरना मुश्किल हो गया। चोरी तथा ठगी से धन संग्रह करके पुण्यपर्वों, उत्सवों और पितृ-कर्मों के उपलक्ष में बड़े-बड़े राजसी-तामसी भोजनों के आडम्बर किये जाते हैं; जिनमें अनजाने विदेशी घी, खाण्ड, केशर आदि पदार्थों से तथा मांसाहारी और गौहिंसकों से ख़रीदे हुए अशुद्ध दूध-मावे आदि से बने हुए खाद्य पदार्थ शुद्ध मानकर खाना-खिलाना परम धर्म समझा जाता है, परन्तु शुद्ध-सात्विक पदार्थों से बने हुए रोटी-दाल-भात आदि यदि अपनी जाति के फ़िरक़े से भिन्न फ़िरक़े का कोई व्यक्ति छू ले तो वे इनके नज़दीक अशुद्ध हो जाते हैं और उनके खाने से इनका धर्म डूब जाता है।

दूसरी तरफ़ नए फ़ैशन के लोग आहार-विहार की शुद्धि-अशुद्धि के विचार को केवल ढकोसला मानते हैं और इस विषय में सावधानी रखने की कुछ आवश्यकता नहीं समझते। खाने-पीने में इस बात की जाँच वे लोग बहुत ही कम करते हैं कि जो चीज़ें वे खाते हैं वे किन पदार्थों की, कहाँ, कैसे बनी हैं तथा किसने बनाई हैं और जिसके हाथ से वे खाते हैं वह व्यक्ति किस आचरण का है। इत्यादि। देखने में फ़ैन्सी, ख़ूबसूरत, जिह्वा को स्वाद लगने वाली और फ़ैशन के अनुकूल चाहिए, फिर मुँह का फाटक बेरोकटोक खुला रहता है। विदेशों में बने हुए अनजाने खाद्य पदार्थ (Patent food) बड़े शौक़ से खाए जाते हैं और बालकों को भी उन्हीं के खाने का अभ्यास कराया जाता है। चाय, तमाखू, नशा आदि व्यसन की चीज़ें शिष्टाचार की सामग्री गिनी जाती हैं और बर्फ़, सोडा-वाटर, लेमनेड तथा विदेशी दवाइयाँ खाते रहना अमीरों का फ़ैशन हो गया है।

इन रजोगुणी-तमोगुणी खाने की चीज़ों के विषम आहार से न तो शरीर आरोग्य रह सकता है और न बुद्धि ही सात्विक हो सकती है। इसलिए सात्विकता की इच्छा रखने वाले लोगों को इनसे बचना आवश्यक है। आहारशुद्धि के लिए बहुत ही सावधान रहना चाहिए।

वस्त्र

शरीर को शीत, उष्ण तथा रोगादि से बचाने एवं लज्जा निवारण के उद्देश्य से समाज की तथा स्वयं अपनी मर्य्यादा के अनुसार, अवसर और परिस्थिति की आवश्यकता के उपयुक्त वस्त्र पहिनना चाहिए, न कि केवल दिखावे की सुन्दरता बढ़ाने के लिए। किसी विशेष ढङ्ग के पहिनाव में आसक्ति और कट्टरता नहीं रखनी चाहिए। यथाशक्य मोटा, सादा और साफ़-सुथरा स्वदेशीवस्त्र पहिनना चाहिए। केवल दिखावे की चटक-मटक के बारीक और रेशम आदि के महीन वस्त्र न तो शरीर को शीत-उष्ण तथा रोगादि से सुरक्षित रख सकते हैं और न वे लज्जा निवारण ही करते हैं।

व्यायामादि विहार

शरीर में वात-पित्त-कफादि दोषों को सम रखकर बल और दृढ़ता बनाए रखने एवं उनके बढ़ाने के लिए शक्त्यानुसार स्त्री और पुरुष सबको परिश्रम अवश्य करना चाहिए। जहाँतक हो सके, उत्पादक श्रम ही करना, परन्तु यदि ऐसा न हो सके तो व्यायाम नित्य नियम से करना चाहिए। अमीरी, आलस्य या प्रमाद में निकम्मे रह कर शरीर को शिथिल न बनाना चाहिए। यथाशक्य स्वदेशी व्यायाम करना चाहिये। फ़ैशनेबल न होने के कारण देशी सादे व्यायामों से घृणा करके विदेशी बहुत ख़र्चीले व्यायाम और खेलों में आसक्ति रखना सात्विकता के विरुद्ध है। वास्तव में देशी सादे व्यायाम और खेल बहुत अल्प ख़र्चीले होते हुए भी विदेशी आडम्बरों से कम लाभदायक नहीं। शक्त्यानुसार पैदल घूमने का अभ्यास अवश्य रखना चाहिए; सवारी आदि में बैठकर आने-जाने में इतना आस-

क न हो जाना चाहिए कि पैदल चलने की आदत ही छूट जाय और आवश्यकता पड़ने पर पैदल चलने में दुःख हो।

इसी तरह शरीर के दूसरे विहार भी यथाशक्य सादे बनाये रखनें चाहिए, ताकि काम पड़ने पर परवशता न रहे और शरीर रोगों से मुक्त रहे।

ब्रह्मचर्य्य*

काम के वेग की शान्ति के लिए पुरुष को अपनी स्त्री के साथ और स्त्री को अपने पुरुष के साथ केवल ऋतुकाल में—वैद्यक शास्त्र के बँधे हुए नियमों के अनुसार—विषय करना चाहिए। अमर्य्यादित-रूप से, असमय में और पराए स्त्री-पुरुष से सङ्ग कदापि नहीं करना चाहिए। शरीर को आरोग्य, सुदृढ़ एवं बलवान बनाने और मन-बुद्धि की सात्त्विकता के लिए वीर्य की रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है; इसलिए इस विषय में बहुत ही संयम से रहना चाहिए। विषयानन्द के लिए वीर्य का ज़रा भी अपव्यय नहीं करना चाहिए।

दूसरी इन्द्रियों के विषय भी मर्य्यादित-रूप से संयम के साथ भोगना चाहिए; उनमें आसक्त होकर तल्लीन न होना चाहिए। अनियमित विषय-भोगों से ही शरीर कमज़ोर होकर रोग-ग्रसित होता है। आँखों से प्रिय पदार्थों को देखने, कानों से प्रिय ध्वनियों के सुनने, नासिका से सुगन्धित वस्तुओं के सूँघने, त्वचा से सुहावने पदार्थों के स्पर्श करने, जिह्वा से खान-पान के स्वादिष्ट रसास्वादन लेने आदि शौक़ीनी के भोगों की ऐसी आदत न डालनी चाहिए कि उनके न मिलने पर चित्त में विक्षेप हो। यदि उपरोक्त भोग्य पदार्थ अधिक प्रयास के बिना प्राप्त हों अथवा गुणियों के गुण तथा कारीगरों के कला-कौशल की रक्षा अथवा व्यवसायियों को सहायता देने के लिए व्यवहार में लाना उचित प्रतीत हो तो उनको अनासक्त बुद्धि

*तृतीय प्रकरण में ब्रह्मचर्य्य का खुलासा देखिए।

से मन* और इन्द्रियों* को वश में रखते हुए भोगने में हानि नहीं। परन्तु उनको निरन्तर भोगने के लिए प्रयास करने, उनकी प्राप्ति के लिए चिन्तित रहने तथा रात-दिन उनका ही ध्यान करते रहने से महान् अनर्थ होते हैं और वे सच्चे सुख में बहुत बाधक होते हैं; क्योंकि विषय-भोगों का सुख राजसी होने से परिणाम में महान् दुःखदायक होता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
—गी० अ० १८-३८

अर्थ—इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से होने वाला (आधिभौतिक) सुख राजस कहा जाता है। यह पहिले तो अमृत के समान प्रतीत होता है, परन्तु उसका परिणाम विष के समान होता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
—गी० अ० ५-२२

अर्थ—क्योंकि (बाह्य पदार्थों के) संयोग से उत्पन्न होने वाले भोग, उत्पत्ति और नाश वाले हैं; अतएव वे दुःख के ही कारण हैं। हे कौन्तेय! बुद्धिमान लोग इनमें आसक्त नहीं होते।

नित्य कर्म

सवेरे सूर्योदय से पहिले—जितनी जल्दी हो सके—उठ कर, बिस्तर छोड़ने के पूर्व सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, परमात्मा का स्मरण-ध्यान करना चाहिए। फिर शौच, दातुन, स्नान आदि से शरीर के सब अङ्गों को साफ़ और शुद्ध करने के उपरान्त कुछ नियमित समय तक ईश्वरोपासना, मन को एकाग्र करने के लिए यानी अपने व्यक्तित्व को समष्टि में जोड़ने के अभ्यास

---

*शम और दम का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

के लिए, सात्विक भाव से—किसी फल की आशा न रख कर—अवश्य करनी चाहिए; अर्थात् दिन भर संसार के व्यवहार करने में एक परमात्मा सर्वत्र एक समान व्यापक होने का साम्य भाव चित्त में बना रहे, ताकि आत्मा के विमुख अर्थात् बन्धन करनेवाले व्यवहार शरीर से न बने, यानी दूसरों के साथ राग-द्वेषादि के आसुरी व्यवहार न हों; इसलिए सुबह के प्रशान्त समय में कुछ समय तक मनको सर्वात्मा=परमात्मा के चिन्तन-रूप एकता में जोड़ना चाहिये ।

ईश्वरोपासना विधि*

सार्वात्मा = परमात्मा का सबसे अधिक—यथार्थ बोध करानेवाला शब्द अथवा चिन्ह "प्रणव" अर्थात् "ॐकार" है, क्योंकि इस एक अक्षर में ही परमात्मा के सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप, उसकी सर्वव्यापकता तथा विश्व की आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक एकता का भाव भरा हुआ है ।

प्रणवः सर्ववेदेषु ।

—गी० अ० ७-८

अर्थ—सब वेदों मे ॐकार मैं हूँ ।

इसलिए उक्त अर्थ सहित "ॐ" के स्मरण और जप* द्वारा परमात्मा की उपासना करना सब से श्रेष्ठ है तथा स्त्री; पुरुष; ऊँच, नीच सब कोई उसको बहुत ही सुगमता से कर सकते हैं । परन्तु यदि पहले उसमें मन न लगे तो प्रथमावस्था में—केवल साधन-मात्र के लिए—अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, सगुण अथवा निर्गुण उपासना, चाहे किसी मूर्ति, चित्र अथवा दूसरे चिन्ह को लक्ष्य कर अथवा ध्यान द्वारा—जिसमें मन लगे—करे । परन्तु अपने उपास्य देव को एक व्यक्ति या एकदेशी अथवा उत्पत्ति-विनाश वाला न समझना; किन्तु अज, अविनाशी, जगदीश्वर,

---

*तृतीय प्रकरण में ईश्वर-भक्ति तथा जप का खुलासा देखिए ।

जगन्नियन्ता, जगदाधार, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान आदि गुणों का चिन्तन करते हुए उसकी उपासना करनी चाहिए। उसमें रजोगुणी-तमोगुणी भाव अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मद, शोक, शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा, राग-द्वेष आदि का आरोप कर, रजोगुणी-तमोगुणी पदार्थों द्वारा और रजोगुणी-तमोगुणी भावों से उपासना नहीं करनी चाहिए; क्योंकि परमात्मा केवल सात्विक एवं अनन्य भक्ति से प्रसन्न होता है, न कि रजोगुणी-तमोगुणी पदार्थों तथा भावों से संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो परमात्मा से पृथक् हो; इसीलिए उसकी उपासना करने के लिए किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं रहती।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
—गी० अ० ९-२६

अर्थ—जो भक्ति से मुझे पत्र, पुष्प फल अथवा जल (अर्थात् जो वस्तुएं बिना अधिक प्रयास के प्राप्त हो सकती हैं वे) अर्पण करता है उस नियत चित्त व्यक्ति की भक्तियुक्त भेंट को मैं (प्रसन्नतापूर्वक) ग्रहण करता हूँ। अर्थात् प्रत्येक देहधारी की देह में मैं सर्वात्मा-परमात्मा ही रहता हूँ; अतः मेरी उक्त देहों के उपयुक्त तथा उनकी आवश्यकता और अपनी योग्यता के अनुसार पत्र, पुष्प, फल या जल ही के द्वारा जो मेरी उक्त देहों की सेवा करता है—जिस तरह पशु-पक्षियों की घास, पात, पुष्प आदि से और मनुष्यों की फल-जल आदि से अर्थात् जो पदार्थ साधारण स्थिति के लोगों को भी सहज में ही प्राप्त हो सकते हैं उनसे प्रेम-पूर्वक जो सेवा करता है; अथवा स्थूल-बुद्धि के साधारण व्यक्तियों के मन एकाग्र होने के प्रयोजन से उपासना के लिए कल्पित की हुई देव मूर्तियों, चित्र एवं दूसरे चिन्हों पर केवल पत्र, पुष्प, फल और जल ही जो भक्ति से

पढ़ाता है, उसे—सब के साथ प्रेम में जुड़े हुए—व्यक्ति की उक्त भेंट से मैं समष्टि-आत्मा=परमात्मा बहुत प्रसन्न होता हूँ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
—गी० अ० ९-२९

अर्थ—सब भूतों में मैं एक समान हूँ, मुझे न तो कोई पदार्थ अप्रिय है और न कोई प्रिय। जो भक्ति से मेरा भजन करते हैं अर्थात् जो मुझ परमात्मा को सब में एक समान देखकर सब की प्रेमयुक्त सेवा और आदर करते हैं वे मुझ में हैं और मैं उनमें हूँ अर्थात् वे मेरे साथ एक हो जाते हैं।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥
—गी० अ० १५-१३

अर्थ—पृथ्वी के अन्दर रह कर सब भूतों को मैं सर्वात्मा-परमात्मा अपने तेज से धारण करता हूँ। रसात्मक सोम होकर सब औषधियों अर्थात् वनस्पतियों का पोषण मैं ही करता हूँ।

इसीलिए जब संसार का कोई भी पदार्थ उससे अलग नहीं तो उसकी मूर्ति के सामने पदार्थ या भोग्य सामग्री रखने मात्र की उपासना से वह प्रसन्न नहीं होता। पदार्थ तो सांसारिक लोगों की आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए होते हैं। इसलिए जिसके पास पदार्थ हों उसको उन पदार्थों से देहधारियों की आवश्यकताएँ पूरी करनी चाहिए; यही परमात्मा की सच्ची उपासना है, क्योंकि वही सब प्राणियों में रहकर सब भोग भोगता है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
—गी० अ० १५-१४

अर्थ—मैं ही वैश्वानर अग्नि होकर सब प्राणियों की देहों में रहता हूँ और प्राण, अपान वायु के समान योग से चार प्रकार के अन्न (भोग्य पदार्थों) को पचाता हूँ (भोगता हूँ)।

सांसारिक फलों के लिए देवताओं का पूजन

सांसारिक फलों की प्राप्ति के लिए की हुई राजसी उपासना से नाशवान् फल तो प्राप्त होते हैं, परन्तु वे एकत्व भाव अर्थात् स्वतन्त्रता अथवा मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग में बाधक होते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥
—गी० अ० ७-२०

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
—गी० अ० ७-२१

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥
—गी० अ० ७-२२

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥
—गी० अ० ७-२३

अर्थ—भिन्न-भिन्न कामनाओं से विक्षिप्त बुद्धि वाले लोग अपनी-अपनी प्रकृति के वश, मुझ समष्टि-आत्मा=परमात्मा से भिन्न देवताओं को मान कर, उपासना के भिन्न-भिन्न नियम पालन करके, उनका यजन-पूजन करते हैं।

जो-जो देव-भक्त जिस-जिस शरीरधारी देवता की श्रद्धा* पूर्वक पूजा करने की इच्छा करता है उस-उस की श्रद्धा, मैं (सबका आत्मा-परमात्मा) उस-उस देवता में स्थिर कर देता हूँ।

उस श्रद्धा से युक्त वह (भक्त) उस (देवता) की आराधना करता है और उसी के अनुसार उसकी कामनाओं की यथायोग्य पूर्ति, मुझ (सबके-आत्मा-परमात्मा) ही से होती है।

परन्तु इन अल्प बुद्धि वाले लोगों को मिलनेवाले ये फल नाशवान होते हैं। देवताओं को भजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।

भावार्थ यह है कि परमात्मा से भिन्न न तो पूजा करने वाला है और न पूजा जाने एवं फल देने वाला देवता ही। परन्तु पृथकता के भ्रम से अपने व्यक्तित्व को अलग मानने के तामसी अहङ्कार वाले लोग अपने विषय-सुखों एवं धन-पुत्रादि की कामनाओं से आतुर होकर आप ही—अपनी उन कामनाओं युक्त मन से—अलग-अलग देवता कल्पित कर लेते हैं और आप ही (उनमें स्थापित की हुई) अपनी अचल श्रद्धा से—फल उत्पन्न कर लेते हैं। यदि एक ही देवता को मानने वालों की संख्या बहुत हो और उसमें उनकी अचल (दृढ़) श्रद्धा हो तथा सब मानने वालों में इस विषय में आपस की एकता का भाव हो तो उस बढ़ी हुई सम्मिलित भावना के कारण लोगों की कामनाओं की पूर्ति की अधिक सम्भावना रहती है। परन्तु इन विषय-सुखों की कामनाओं की प्राप्ति के लिए उत्पन्न होने

---

* श्रद्धा का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिये।

वाली श्रद्धा का फल, इन विषय-सुखों को देने वाले कल्पित देवताओं को उत्पन्न करके, उनके द्वारा इन नाशवान् कामनाओं की प्राप्ति कर लेने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। परन्तु जिनको सर्वत्र एक परमात्मा का निश्चय होता है वह अपने व्यक्तित्व को उसमें समर्पण कर देते हैं, अतः वे परमात्म-भाव को प्राप्त हो जाते हैं।

अपने उपास्य देव में पूर्ण श्रद्धा रखते हुए दूसरों के इष्ट की निन्दा या अनादर न करना चाहिए, किन्तु सबके देवों में अपने उपास्य देव को व्यापक देखना चाहिए; क्योंकि सब चराचर सृष्टि में एक ही परमात्मा ओत प्रोत भरा हुआ है। भिन्न-भिन्न मज़हब, भिन्न-भिन्न मत तथा भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वाले चाहे उसको भिन्न-भिन्न नामों तथा भिन्न-भिन्न उपाधियों से विभूषित करके उसकी उपासना भिन्न-भिन्न तरीक़ों से भले ही करें, परन्तु वास्तव में सब नामों और सब उपाधियों में एक परमात्मा के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं—यह दृढ़ निश्चय रखना चाहिए। जो इस तरह परमात्मा के एकत्व भाव के तत्त्व को न जान कर, भिन्न-भिन्न लोगों के ईश्वर को पृथक्-पृथक् मानते हैं वे परमात्मा को प्राप्त नहीं हो सकते।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधि पूर्वकम्॥
—गी० अ० ९-२३

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥
—गी० अ० ९-२४

अर्थ—हे कौन्तेय! मुझ परमात्मा, से भिन्न, अन्य देवता मान कर उनका श्रद्धायुक्त पूजन करने वाले भी मेरा ही पूजन करते हैं, परन्तु वह पूजन विधिहीन होता है।

क्योंकि सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ; परन्तु वे तत्त्वतः मुझे नहीं जानते, इसलिए गिर जाया करते हैं।

तात्पर्य यह कि जब एक परमात्मा के सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं, तो देवताओं की कल्पना करके उनको पूजने वाले भी परोक्ष रूप से परमात्मा ही का पूजन करते हैं, परन्तु वे लोग देवताओं को परमात्मा से पृथक् मानकर व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के भाव से उनका पूजन करते हैं, एकत्व भाव से नहीं करते, अतः वह विपरीत भाव का पूजन उनके पतन का कारण होता है। यहाँ इतना कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि अधिकांश हिन्दू-जनता इस विपरीत भाव की पूजक है। अपने-अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए ये लोग अगणित देवी-देवताओं की कल्पना करके नाना प्रकार से देव-पूजा, मरे हुए असंख्य पितरों की प्रेत-पूजा और भौतिक जड़ पदार्थों की भूत पूजा करने में ही सन्तोष नहीं करते, किन्तु अन्य मतावलम्बियों के पीर-पैगम्बरों को भी पूजते हैं और अपनी इष्ट-सिद्धि तथा अनिष्ट-निवारण के लिए सर्वथा उन पर निर्भर रहते हुए अपनी आत्मा को उनके गिरवी रख कर पूरे परावलम्बी बने हुए हैं; फलतः उनमें आत्म-बल की नितान्त ही कमी एवं स्वावलम्बन का भाव लुप्त हो गया है। इस तामसी आचरण से सर्वव्यापक परमात्मा की अवज्ञा ही नहीं होती, किन्तु यह एक प्रकार की नास्तिकता है, जिसका दुष्परिणाम ऊपर के श्लोकानुसार प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर हो रहा है।

सार्वजनिक उपासना

स्थूल बुद्धि के लोगों के लिए श्रद्धापूर्वक ईश्वरोपासना करना इसलिए आवश्यक है कि स्थूल शरीर ही में उनकी अत्यन्त आसक्ति होने के कारण वे लोग प्रायः शरीर ही सब कुछ मानते हैं; इससे परे कोई सूक्ष्म तत्त्व है ही नहीं, उनको ऐसा निश्चय होने की अधिक सम्भावना रहती है और स्थूल शरीरों में अनन्त प्रकार के भेद होते हैं, इसलिए इस निश्चय से आपस में एकता का प्रेम हो नहीं सकता। अतः स्थूल शरीरों से परे सूक्ष्म-तत्त्व के अस्तित्व तथा उसकी सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्ता का

विश्वास जमाए रखने के निमित्त उनके लिए ईश्वरोपासना श्रद्धा-पूर्वक करना आवश्यक है और इस प्रयोजन की पूर्णतया सिद्धि के लिए अपने-अपने घरों में बैठे हुए पृथक-पृथक् उपासना करने की अपेक्षा सार्वजनिक मन्दिरों या उपासना-स्थानों में नियत समय पर, स्त्री-पुरुष ऊँच-नीच सबको एकत्रित होकर, उपरोक्त सात्विक भाव से एक ही परमात्मा की उपासना करना अधिक श्रेयस्कर होता है। एक ही काल में, एक ही स्थान पर, एकत्रित होकर एक ही ईश्वर की उपासना करने से सब में प्रेम और एकता का भाव बढ़ता है। स्त्रियों को अपने-अपने पति तथा अन्य स्वजनों के साथ जाना चाहिए। मन्दिर और उपासना-स्थान पवित्र एवं रमणीय प्रदेश में इस तरह विशाल और खुलासा बने हुए होने चाहिए कि जिसके अन्दर जाने से हृदय में सात्विकता उत्पन्न हो। उनमें एकान्त वास के बन्द कमरे न होने चाहिए, किन्तु बड़े-बड़े सभा-मण्डप व दालान होने चाहिए, कि जहाँ कोई किसी के साथ किसी प्रकार का गुप्त-व्यवहार न कर सके। उपासना यदि कविता में की जाय तो वह कविता सब उपासकों के समझ में आने योग्य होनी चाहिए। यदि सङ्गीत में की जाय तो सब उसमें सम्मिलित हो सकें, ऐसा सङ्गीत होना चाहिए। यदि कथा उपदेश द्वारा हो तो वह भी सबके समझने योग्य होने चाहिए। इन कविताओं, गायनों तथा कथा-उपदेशों में यही भाव रहना चाहिए कि परमात्मा सर्वत्र एक समान व्यापक है; जो मूर्ति, चित्र या चिन्ह में है, वही मन्दिर के भवन में और वही पुजारियों और उपासकों में है। उनमें व्यक्तित्व के भाव और व्यक्तिगत स्वार्थों के त्याग का उपदेश तथा सबसे प्रेम और एकता के भाव भरे रहने चाहिए एवं सात्विक व्यवहारों का शुभ परिणाम और राजस-तामस व्यवहारों से दुःख उत्पन्न होने की चितावनी बार-बार आनी चाहिए। मन्दिर और उपासना-स्थान उपासकों के लिए परमपिता परमात्मा के घर हैं; अतः उन पर उसके सब सन्तानों का समान अधिकार है; इसलिए उपासना-स्थानों में प्रवेश का अधिकार

सबको एक समान रहना चाहिए—चाहे उस नगर या ग्राम का निवासी हो अथवा बाहिर का आगन्तुक; चाहे वह किसी वर्ण, किसी जाति और किसी स्थिति का हो—किसी के लिए भी भेद या परहेज़ न होना चाहिए। मन्दिरों और तीर्थ-स्थानों की स्थापना का यही प्रयोजन था कि लोग नियत समय पर, एक स्थान में एकत्रित होकर एक परमात्मा की उपासना द्वारा आपस में प्रेम बढ़ावें और एकता की शिक्षा प्राप्त करें। यहाँ सार्वजनिक-हित के कार्यों का अनुष्ठान हो, आगन्तुकों को आश्रय मिले और सब कोई सम्मिलित होकर एक-दूसरे के सहयोग और सहायता से दुःखों की निवृत्ति और सुख प्राप्ति के उपाय करें। मन्दिरों की बनावट और उनके पुराने समय की कार्य्यक्रम की व्यवस्थाएँ इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के अनुकूल बनी हुई थीं। परन्तु जब से भारतवर्ष के लोगों ने व्यावहारिक वेदान्त से उपेक्षा की तब से इन देवस्थानों की स्थापना का असली तत्त्व तो लुप्त हो गया, केवल प्रक्रिया रह गई और इनके सम्बन्ध में व्यक्तिगत स्वार्थ एवं व्यक्तित्व के अहङ्कार के भाव बढ़ कर घोर दुर्दशा हो गई और परस्पर का प्रेम एवं एकता बढ़ाने के बदले ये देवस्थान अनेकता और फूट फैलाने तथा कुकर्म करने के वृहत् साधन हो गए। एक-एक नगर और ग्राम में नाना सम्प्रदायों के अनेक मन्दिर बन गये और बन रहे हैं; जिन में से अधिकांश का उपयोग कुकर्मों के लिए होता है। उपासना में व्यक्तित्व के भाव का यहाँ तक अतिक्रम हुआ है कि घर-घर में पृथक्-पृथक् मन्दिर स्थापित होकर भी सन्तोष नहीं हुआ, किन्तु एक ही कुटुम्ब के प्रत्येक व्यक्ति के अलग-अलग उपास्य देव अपनी-अपनी पिटारियों में बन्द करके रक्खे जाते हैं। ऐसी दशा में परमात्मा की सर्वव्यापकता और सर्वात्म साम्य-भाव की एकता का विचार ही कैसे उत्पन्न हो। जबतक परमात्मा की उपासना में भी इस तरह की पृथकता का भाव बना रहेगा, तबतक भारत का उत्थान होना असम्भव है। अतः सबके हित की दृष्टि से प्रत्येक नगर और गाँव में सार्वजनिक उपासना को पुनर्जीवित करना आवश्यक है

यज्ञ*

संसार के खेल में अपने-अपने गुणों की योग्यता के अनुसार जो पार्ट अपने ज़िम्मे हो उसको अपना कर्त्तव्य समझकर, सचाई और तत्परता के साथ, युक्ति और शक्ति से उत्साह सहित अच्छी तरह बजाने द्वारा लोक-सेवा करके उससे जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी से अपनी आजीविका करने रूपी यज्ञ, प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए। यदि सत्त्वगुण प्रधान शरीर होने के कारण विद्या और ज्ञान की अधिकता होने से, शिक्षक वर्ग अर्थात् ब्राह्मण का व्यवसाय अपने हिस्से में हो तो ब्राह्मण के कर्त्तव्य अच्छी तरह पालन करने चाहिए।

> शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
> ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
>
> —गी० अ० १८·४२

अर्थ—मन-संयम*, इन्द्रिय-निग्रह*, तप* (गी० अ० १७ श्लोक १४-१७ में वर्णित), अन्तर-बाहिर की पवित्रता*, शान्ति*, सरलता* और आस्तिक* बुद्धि से ज्ञान* अर्थात् आत्मज्ञान और विज्ञान अर्थात् सांसारिक पदार्थों एवं व्यवहारों के विशेष ज्ञान द्वारा संसार के कार्य (लोक-सेवा) करके आजीविका करना, ये ब्राह्मण के कर्त्तव्य हैं। अर्थात् मन और इन्द्रियों के संयम, तप, पवित्रता आदि पूर्वक परमात्मा के ज्ञान और सांसारिक विषयों तथा पदार्थों के विज्ञान के प्रचार एवं अध्ययन-अध्यापन द्वारा लोक-सेवा करके उससे जो कुछ प्राप्त हो उसी में अपना निर्वाह सन्तोषपूर्वक करना, यह ब्राह्मण का कर्त्तव्य है।

---

*यज्ञ का खुलासा प्रथम प्रकरण में देखिए।

*शम, दम, तप शौच, सन्तोष, सरलता, आस्तिक्य और ज्ञान का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

रज-सत्व की प्रधानता के कारण बुद्धि और बल की अधिक योग्यता होने से यदि रक्षक वर्ग अर्थात् क्षत्री का पार्ट हो तो—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

—गी० अ० १८-४३

अर्थ—शूरवीरता*,तेज*, धैर्य*नीति-कुशलता*,युद्ध में पीछे न हटना, दानवीरता†, तथा ईश्वर भाव अर्थात् ईश्वर की तरह प्रेम*,न्याय और दण्ड* पूर्वक प्रजापालन द्वारा सांसारिक व्यवहार (लोक-सेवा) करके आजीविका करना, यह क्षत्री का कर्त्तव्य है ।

रज-तम की प्रधानता के कारण व्यवस्था की अधिक योग्यता होने से यदि व्यवसायी वर्ग अर्थात् वैश्य का पार्ट हो तो—

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

—गी० अ० १८-४४ पूर्वार्द्ध

अर्थ—खेती, गौ आदि पशुओं का पालन और वाणिज्य (व्यापार) द्वारा सांसारिक व्यवहार (लोक-सेवा) करके आजीविका करना वैश्य का कर्त्तव्य है ।

तम की प्रधानता के कारण शारीरिक श्रम करने की अधिक योग्यता होने से यदि श्रमी वर्ग अर्थात् शूद्र का पार्ट हो तो—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥

गी० अ० १८-४४ उत्तरार्द्ध

---

*शूरवीरता, तेज, धैर्य, कुशलता, प्रेम और दण्ड का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए ।

†दान का खुलासा इसी प्रकरण में आगे देखिए ।

अर्थ—सेवा करना अर्थात् शिल्प, नौकरी तथा मजदूरी आदि शारीरिक श्रम द्वारा संसार के व्यवहार (लोक-सेवा) करके आजीविका करना शूद्र का कर्त्तव्य है।

यदि स्त्री शरीर का पार्ट हो तो जिस योग्यता के पुरुष के घर उसका जन्म हो तथा जिस योग्यता के पुरुष के साथ उसका विवाह सम्बन्ध हो उसी के व्यवहारों में सहायता देने, अपने गृहस्थ के काम-धन्धे सुचारु रूप से करने तथा सन्तानों का पालन-पोषण, शिक्षण, आदि की लोक-सेवा करके आजीविका करना साधारणतया स्त्री शरीर का कर्त्तव्य है।

स्त्रियों के विषय में पुरुषों का यह विशेष कर्त्तव्य है कि बाल्यावस्था में पिता और पीछे पति-पुत्रादि उनकी सदा आदरपूर्वक रक्षा करें और पिता आदि का कर्त्तव्य है कि कन्याओं का उनके समान गुणों के पुरुषों के साथ विवाह-सम्बन्ध करें। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए पुरुष यदि अपने इस कर्त्तव्य में त्रुटि करे तो स्त्री अपना कर्त्तव्य कदापि ठीक-ठीक पालन नहीं कर सकती; अतः सात्विक व्यवहार और समाज की आत्मिक उन्नति के लिए अपना-अपना कर्त्तव्य पूरी तरह पालन करने की सबके लिए अत्यन्त आवश्यकता रहती है।

व्यवसाय (अपने कर्त्तव्य-कर्म) लौकिक दृष्टि से ऊँचा हो या नीचा, इसमें अभिमान* या ग्लानि* न करना; क्योंकि संसार के व्यवहार के लिए छोटे, मोटे, ऊँचे, नीचे प्रतीत होने वाले सभी व्यवसाय अपने-अपने स्थान पर एक समान* योग्यता के, एक समान आवश्यक और अनिवार्य्य हैं; इसलिए जो व्यवसाय अपने हिस्से में आया हो उसी को श्रेष्ठ समझ कर, अच्छी तरह, प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए। साथ ही साथ दूसरों के व्यवसाय का तिरस्कार या घृणा* न करना चाहिए; किन्तु सब

---

*अभिमान; लज्जा-ग्लानि, घृणा का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

के साथ सहयोग एवं सहानुभूति रखते हुए सब से ताल-बद्ध होकर अपने कर्त्तव्य करने चाहिए।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्

—गी० अ० १८·४७

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

—गी० अ० १८·४८

अर्थ—दूसरों के अच्छे व श्रेष्ठ माने जाने वाले व्यवसाय से अपना व्यवसाय विगुण अर्थात् हीन कोटि का प्रतीत हो तो भी वह श्रेष्ठ है। स्वभाव-सिद्ध अर्थात् अपने गुणों की योग्यता के अनुसार—अपने लिए—नियत कर्म करने में कोई दोष नहीं होता।

हे कौन्तेय ! जो कर्म सहज अर्थात् गुणों की योग्यता के अनुसार अपने-अपने शरीर के अनुकूल है वह सदोष प्रतीत हो तो भी उसे कभी न छोड़ना चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण आरम्भ किसी न किसी दोष से वैसे ही घिरे हुए रहते हैं जैसे कि धुएँ से आग। अर्थात् दोष-दृष्टि से देखने पर जगत का कोई भी कार्य्य सर्वथा निर्दोष नहीं मिलेगा, चाहे वह कितना ही अच्छा या ऊँचे दर्जे का क्यों न प्रतीत होता हो। दोष किसी कर्म में नहीं, किन्तु देखने वाले के भाव में होता है।

वर्ण-व्यवस्था।

वर्तमान समय में व्यवहार में सूक्ष्म दार्शनिक विचारों का उपयोग छूट जाने के कारण वर्ण-व्यवस्था के विषय में बहुत मतभेद और खींचा-तानी चल रही है। पुराने विचार के लोग जन्म से ही वर्ण मानना ठीक समझते हैं—जन्म के सिवाय दूसरी किसी भी तरह से वर्ण मानना

धर्म-विरुद्ध मानते हैं। दूसरी तरफ नवीन विचार वाले, जन्म को कुछ भी महत्व न देकर केवल कर्म ही से वर्ण मानना उचित समझते हैं और जन्म से वर्ण व्यवस्था ही को सब विपत्तियों का मूल कारण बताते हैं। दोनों ही धारणाएँ स्थूल विचारों पर ही अवलम्बित हैं। सूक्ष्म तात्त्विक विचारों की दोनों ही में कमी है; अतः गुणों को उचित महत्व दोनों ही नहीं देते। परन्तु आर्य्य-संस्कृति ने गुणों के आधार पर ही वर्णव्यवस्था निर्मित की थी और पूर्वकाल में उसी के अनुसार बर्ताव होता था और यदि विचार कर देखा जाय तो गुणों के अनुसार कर्मों का विभाग होना प्राकृतिक भी है। गुणों की योग्यता के बिना न तो किसी वंश में जन्म लेने मात्र ही से उस वंश-परम्परा के कर्म करने में सफलता मिलती है और न स्वेच्छा से स्वीकार किया हुआ कर्म ही अच्छी तरह सम्पादन किया जा सकता है। परन्तु इतनी बात अवश्य है कि सन्तान के साथ माता-पिता को एकता का विशेष सम्बन्ध होने से तथा विशेष कारणों के बिना, रजवीर्य्य के साथ वंश परम्परा के गुण सन्तानों में आना स्वाभाविक होने से माता-पिता के गुण साधारणतया सन्तानों में अधिकता से आते हैं—यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है; इसलिए प्राचीन समय में सूक्ष्मदर्शी ऋषियों ने वर्णव्यवस्था के लिए कर्म की अपेक्षा जन्म को अधिक महत्व दिया था एवं सवर्ण अर्थात समान गुण वाले स्त्री-पुरुषों के विवाहों को उत्तम विवाह माना था। वर्ण-निर्णय के लिए जन्म को कर्म से अधिक महत्व देना विशेष उपयुक्त, हितकर तथा वैज्ञानिक भी है। क्योंकि किसी विशेष वर्ण में उत्पन्न होने वाला बालक जितनी अच्छी तरह सुभीते के साथ उस वर्ण के कर्तव्य-कर्म की शिक्षा प्राप्त करके उसके अनुसार व्यवहार कर सकता है, उतनी अच्छी तरह दूसरे वर्ण में उत्पन्न होने वाला बालक दूसरे वर्ण के उत्पन्न होने वाले कर्मों को सम्पादित नहीं कर सकता। परन्तु वर्तमान समय की परिस्थिति में केवल जन्म से ही वर्ण मानने पर कट्टरता रखना जुबानी जमा-खर्च के सिवाय कार्य-रूप

में कुछ भी मूल्य नहीं रखता; क्योंकि प्रथम तो किसी भी वर्ण में इतने दीर्घ काल तक रजवीर्य्य को शुद्धि बनी रहना सम्भव नहीं; दूसरे, देश और काल की परिवर्तनशील परिस्थिति तथा माता-पिता के आहार-विहार और मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य की परिवर्तन शील अवस्था आदि का प्रभाव भी रजवीर्य्य पर पड़ता है, जिसके कारण उनके सभी सन्तानें समान गुणों वाले नहीं होते। तीसरे सङ्गति के प्रभाव से भी गुणों में थोड़ा-बहुत फेरफार होता ही है; इस तरह के अनेक कारणों से वर्णव्यवस्था में धीरे-धीरे बहुत विश्रृंखलता आ गई। वर्तमान में ब्राह्मण कुलोत्पन्न बहुत से तामसी प्रकृति के लोग केवल शारीरिक सेवा करने योग्य हो गये हैं; क्षत्री कुलोत्पन्न बहुत से लोग डरपोक, दब्बू, मूढ़, विषय-लम्पट और अत्याचारी दृष्टिगोचर होते हैं और बहुत से शूद्रोचित पेशा करने की योग्यता रखते हैं; वैश्य कुलोत्पन्न बहुत से व्यक्ति निरुद्यमी, आलसी एवं परावलम्बी बन गये हैं और शूद्र कुलोत्पन्न बहुत से सात्विक प्रकृति के लोग ज्ञान-विज्ञान में निपुण, ब्राह्मणोचित तथा बहुत से क्षत्रिय एवं वैश्योचित व्यवहार करने की योग्यता रखते हैं फिर चार वर्णों के हज़ारों विभाग होकर—एक-दूसरे के साथ सहयोग देने के बदले—परस्पर में अत्यन्त विरुद्धताएँ उत्पन्न हो गईं प्रत्येक फ़िरक़ा ही नहीं, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थ के लिए तथा अपने-अपने बड़प्पन के अभिमान में एक-दूसरे की अवहेलना और तिरस्कार करने लग गया। इसके अतिरिक्त भिन्न संस्कृतियों के लोगों के सहवास से प्रत्येक वर्ण का अपने-अपने कर्म पर आरूढ़ रहना भी अशक्य हो गया और अपने-अपने वर्ण के अनुसार कर्म करवाने वाली आर्य-संस्कृति की राजसत्ता भी नहीं रही, किन्तु उसके स्थान में—जिसका जो जी चाहे वह कर्म करने में स्वतन्त्रता देने वाली—भिन्न संस्कृति की राजसत्ता हो गई। फल यह हुआ कि जन्म से—ब्राह्मणेतर अन्य वर्ण भी शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी पेशे करने लगे; जन्म से क्षत्रियेतर अन्य वर्ण राजशासन और

सैनिक कार्यों में बड़े से लेकर छोटे पदों पर आरूढ़ हो गए और जन्म से वैश्येतर अन्य वर्ण भी कृषि और व्यापार आदि के पेशे बहुतायत से कर रहे हैं; इसी तरह जन्म से शूद्रेतर वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य शारीरिक श्रम का कार्य करते हैं; और इतना विपरीत आचरण हो जाने से भी जन्म से वर्ण मानने की थोथी एवं पतनकारी कट्टरता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि वर्णव्यवस्था के लिए योग्य गुणों की आवश्यकता अनिवार्य-रूप से स्वीकार कर लेने पर, माता-पिता के गुण सन्तान में आने की अधिक सम्भावना के कारण कर्म की अपेक्षा जन्म को प्रधानता देना उत्तम और वैज्ञानिक साधन है, परन्तु दीर्घ काल तक इस व्यवस्था के अच्छी तरह चलने के बाद वर्तमान में लोगों ने इसके वैज्ञानिक तत्त्व को छोड़ कर केवल रूढ़ि को ही पकड़ लिया, अर्थात् गुणों पर दुर्लक्ष्य कर शरीर ही को प्रधानता देदी, जिससे इस अवस्था का दुरुपयोग होकर विश्रृंखलता आ गई और हितकर होने के बदले यह महान हानिकारक हो गई।

दूसरी तरफ गुणों की योग्यता पर दुर्लक्ष्य कर के लोग, अपने व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लोभ से अपने दिल-पसन्द पेशे स्वीकार करके, उनके अनुसार वर्ण मानने लगे। इस नई मनमानी व्यवस्था की नींव कच्ची होने के कारण अधिक समय तक समाज की व्यवस्था सन्तोषजनक रहना अशक्य है, किन्तु थोड़े ही काल में इससे भयङ्कर विश्रृंखलता उत्पन्न होकर संसार में घोर विप्लव हो जाने की सम्भावना प्रत्यक्ष प्रतीत हो रही है।

यद्यपि पश्चिमी लोगों में प्रत्यक्ष में तो कर्म की ही प्रधानता दीखती है, परन्तु जन्म के महत्व को भी उन्होंने सर्वथा छोड़ नहीं दिया है। उत्तराधिकार के नियम सब देशों में किसी न किसी रूप में अभी तक प्रचलित हैं और वे जन्म ही को महत्व देते हैं; और गुणों की योग्यता पर तो उन लोगों का पूर्ण ध्यान है। यद्यपि साधारणतया पेशे स्वीकार करने में वहाँ

कड़ा नियन्त्रण नहीं है, परन्तु कई पेशे ऐसे हैं जिनको केवल आवश्यक योग्यता के परीक्षोत्तीर्ण व्यक्ति ही कर सकते हैं और यह बात आम तौर से पाई जाती है कि अपने-अपने पेशे के विषय की विशेष योग्यता प्राप्त किये बिना कोई भी व्यक्ति ख्याति और सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। गुणों की योग्यता को वहाँ इतना अधिक महत्व प्राप्त है कि नीचातिनीच कुलोत्पन्न व्यक्ति भी गुणों की समुचित योग्यता होने पर ऊँचे से ऊँचे पद पर आरूढ़ हो सकता है। इतना होने पर भी यह कहना ही पड़ता है कि इस समय सभ्य संसार का झुकाव अधिकतर आधिभौतिक कर्मों को महत्व देकर उनपर ही समाज की वर्णव्यवस्था का निर्माण करने की तरफ़ हो रहा प्रतीत होता है। परन्तु समय पाकर जब इसका भयङ्कर दुष्परिणाम उपस्थित होगा, तब सब को स्वीकार करना पड़ेगा कि आर्य्यसंस्कृति की वर्ण-व्यवस्था दूसरों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त और टिकाऊ थी।

कर्मों का विभाग गुणों की योग्यता के आधार पर होना ही प्राकृतिक है और इसके अनुसार ही वर्णव्यवस्था का निर्माण करने से जगत् का व्यवहार सुख-शान्तिपूर्वक चल सकता है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥

—गी० अ० ४-१३

अर्थ—गुणों की योग्यतानुसार कर्म-विभाग के आधार पर चार वर्णों की सृष्टि मुझ समष्टि-आत्मा=परमात्मा से हुई।

ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः ॥

—गी० अ० १८-४१

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्रों के कर्म उनके स्वभावजन्य गुणों की योग्यतानुसार बँटे हुए हैं।

इसलिए समाज के लिए सब से अधिक हितकर वर्णव्यवस्था यह है कि साधारणतया जन्म से वर्ण मान कर फिर गुणों की अयोग्यता प्रकट होने पर उन व्यक्तियों को अपने पेशे बदल कर अपने गुणों की योग्यतानुसार दूसरे पेशे स्वीकार कर लेने चाहिए। अर्थात् सत्वगुण-प्रधान कुल में जन्म लेने पर पहिले तो वह बालक ब्राह्मण ही समझा जाना चाहिए, परन्तु पीछे उसमें रजोगुण अथवा तमोगुण की प्रधानता प्रकट होने से उक्त गुणों की तारतम्यता के अनुसार उसका वर्ण बदल कर उसके अनुकूल उसको पेशा स्वीकार कर लेना चाहिए। इसी तरह रजोगुण तथा तमोगुण प्रधान वंशोंमें उत्पन्न होनेवालोंकी व्यवस्था होनी चाहिए। परन्तु यह व्यवस्था तभी चल सकती है जब कि समाज-सत्ता या राज सब लोगों के हिताहित के तात्विक विचार से इसका नियंत्रण करे। कर्मों के विषय में तात्विक दृष्टि के विचार बिना साधारण जनता को स्वेच्छाचार पेशा स्वीकार करने की स्वतन्त्रता रहने से राजसी-तामसी व्यवहारों का जो दुष्परिणाम होता है वही होना अवश्यम्भावी है।

यद्यपि आर्य्य संस्कृति ने वर्णव्यवस्था के उपरोक्त चार बड़े विभाग किए हैं, परन्तु गुणों के अनन्त प्रकार के तारतम्य के कारण इन (चारों) में से प्रत्येक में भी गुणों के तारतम्यानुसार कर्म करने की भिन्न-भिन्न योग्यताएँ होती हैं। शिक्षक वर्ग=ब्राह्मण वर्ण में ऊँचे-ऊँचे तत्त्ववेत्ता विद्वान एवं विज्ञानाचार्य से लेकर साधारण उपदेशक, शिक्षक लेखक तक सम्मिलित हैं। रक्षक वर्ग=क्षत्री वर्ण में सम्राट-राजा और बड़े-बड़े हाकिमों एवं आफिसरों से लेकर एक फ़ौजी सिपाही एवं चपरासी तक सम्मिलित हैं। वैश्य वर्ण में कृषि, वाणिज्य तथा उद्योग-धन्धों की बड़ी-बड़ी कम्पनियों के धन-कुबेर स्वामियों से लेकर छोटी-से-छोटी नमक-मिर्च आदि की दूकानदारी एवं फेरी करने वाला बनिया और दलाल, गुमाश्ता, मुक़ादम आदि तक सम्मिलित है। इसी तरह शूद्र वर्ण में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कलाओं तथा कल पुर्ज़ों के बड़े-बड़े कारीगरों एवं इञ्जीनियरों से लेकर साधारण मज़दूर और भङ्गी, चमार

आदि भी सम्मिलित हैं। सारांश यह कि गुणों के अन्तर प्रत्यान्तर तारतम्य के अनुसार उपरोक्त चार वर्णों के अन्तर्गत अगणित व्यवसाय के पेशे होते हैं। अतः सब को अपने-अपने गुणों की योग्यतानुसार पेशा स्वीकार करके लोक-सेवा-रूपी यज्ञ करना चाहिए।

आजीविका का जो भी व्यवसाय हो वह लोक-सेवा के भाव से करना चाहिए; अपनी आजीविका उसके अन्तर्गत समझनी चाहिए। जो सेवा—चाहे वह धन के रूप में हो या किसी वस्तु के रूप में अथवा किसी प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक श्रम के रूप में—दूसरों से ली जाय उसकी एवज़ में उसके पूरे मूल्य की सेवा देने का सदा ध्यान रखना चाहिए। आप कुछ भी सेवा न देकर दूसरों से मुफ्त की सेवा करवाने अथवा आप कम सेवा देकर उसके बदले में दूसरों से अधिक सेवा लेने की नीयत कदापि न रखनी चाहिए। सभी व्यवसायों में सत्य* का बर्ताव पूर्ण रूप से रखना चाहिए। झूठ, कपट, छल, छिद्र आदि करके दूसरों को धोखा देकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने का संकल्प भी नहीं रखना तथा दूसरों की निर्बलता से अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिए। जो कार्य जिस तरह और जिस समय पूरा करने का वायदा किया हो उसको उसी तरह ठहराव के अनुसार पूरा करने के लिए जी-जान से प्रयत्न करना चाहिए।

काम करते समय आलस्य, उदासीनता, ढिलाई, प्रमाद उपेक्षा तथा खेल आदि में ज़रा भी समय नहीं गँवाना चाहिए, किन्तु एकाग्र चित्त से, उत्साह*, धैर्य* एवं तत्परता के साथ अपना काम अच्छी तरह शक्ति, युक्ति, और प्रेमपूर्वक करना चाहिए।

इस तरह अपने कर्त्तव्य पालन करने रूपी यज्ञ से जो कुछ लाभ मिले उसको अपना हक़ समझ कर प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना और उसी में सन्तुष्ट रहना चाहिए। प्रति दिन, प्रति सप्ताह तथा प्रति मास एवं प्रति-

---

* सत्य, उत्साह एवं धैर्य का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

वर्ष कुछ अवकाश शरीर और मन को आराम देने के लिए भी अवश्य रखना चाहिए; क्योंकि कुछ न कुछ अवकाश के बिना निरन्तर कार्य करते रहने से शरीर और मन अस्वस्थ हो जाते हैं, जिससे अपने कर्तव्य कर्म पालन होने में बाधा पहुँचती है। समय का पूरा सदुपयोग करना चाहिए। एक मिनट भी निरर्थक नहीं गँवाना। जो काम जिस समय करना हो उसको उसी समय अवश्य करना अर्थात् समय की पाबन्दी रखनी चाहिए। काम के समय काम और आराम के समय आराम करना चाहिए। समय का व्यतिक्रम नहीं करना चाहिए।

कर्म-सिद्धि के पाँच साधन।

किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए पाँच साधन होते हैं और वे पाँचों ही जब उस कर्म के अनुकूल होते हैं तभी वह काम सिद्ध होता है। यदि उनमें से कोई एक साधन भी ठीक नहीं होता तो उस काम की सिद्धि में उतनी ही त्रुटि रहती है।

> अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
> विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
> —गी० अ० १८-१४

> शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
> न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
> —गी० अ० १८-१५

अर्थ—(१) अधिष्ठान अर्थात् स्थूल शरीर अथवा जिस स्थान में स्थित होकर कर्म किए जाएँ वह स्थान, (२) कर्ता अर्थात् कर्मों की प्रेरणा करने वाला (प्रकृति सहित) आत्मा का व्यष्टि भाव, (३) अनेक प्रकार के करण अर्थात् मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा कर्म करने के उपकरण (औज़ार) (४) कर्म करने की अनेक प्रकार की चेष्टाएँ एवं क्रियाएँ, (५) दैव अर्थात् जगत् को धारण करने वाली समष्टि आत्मा की सूक्ष्म दैवी शक्तियाँ।

शरीर से, वाणी से अथवा मन से मनुष्य जो-जो कर्म करता है—चाहे वह न्याय हो या अन्याय, अर्थात् अच्छा हो या बुरा—उसके ये पाँच ही कारण हैं।

तात्पर्य्य यह कि शरीर आरोग्य और बलवान् हो एवं काम करने का स्थान अनुकूल हो ; उस काम के लिए अन्तःकरण में व्यष्टि आत्मा की प्रेरणा हो; बुद्धि में उसके विषय में यथार्थ निर्णय करने की योग्यता हो; मन विक्षिप्त न हो; इन्द्रियों में कोई दोष न हों; हथियार उस कर्म के उपयुक्त हों; कर्म करने की चेष्टाएँ उचित हों; तथा क्रियाएँ सब ठीक हों और समष्टि सूक्ष्म दैवी शक्तियाँ अनुकूल हों अर्थात् सब के साथ अपनी एकता का भाव (तालबद्धता) हो, तभी कर्मों में सिद्धि प्राप्त होती है। इन साधनों में कोई त्रुटि बनी रहे और दूसरों के स्वार्थ तथा दूसरों के के कम से तालबद्ध न होकर केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से तथा अपनी पृथकता के अहंकार के किए हु काम में सफलता नहीं मिलती। जिस तरह कोई गाने वाला वाद्यों के साथ स्वर-ताल मिला कर गाता है तभी उसका गायन ठीक सिद्ध होता है और उसमें सफलता मिलती है—यदि गवैया स्वर और ताल के वाद्यों से एकता न करे तो उसका गायन बिगड़ जाता है—उसी तरह इस संसार के कामों में दूसरों के साथ तालबद्ध होने ही से सफलता मिलती है; पृथकता के भाव से किए हुए कामों में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। उपरोक्त पाँच साधनों में से जितने ही साधन अधिक उपयुक्त होते हैं उतनी ही अधिक सफलता मिलती है और जितनी कम उपयुक्तता होती है उतनी ही कम सफलता मिलती है।

यदि शक्ति और युक्ति से अच्छी तरह प्रयत्न करने पर भी किसी काम में सफलता न मिले अथवा उसका विपरीत परिणाम हो तो उसके लिए किसी दूसरे व्यक्ति को दोष नहीं देना, न उस असफलता के लिए किसी से द्वेष ही करना चाहिए—किन्तु इन पाँच कारणों में से किसी न किसी

में अवश्य त्रुटि रही होगी—यही निश्चय करके उस त्रुटि को खोज कर मिटाने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

सफलता का रहस्य

कर्मों की सिद्धि साधारणतया उपरोक्त पाँच साधनों से होती है, परन्तु उनकी सफलता का असली रहस्य इन सब सेपरे और बहुत सूक्ष्म है और उस पर अमल करने से सफलता होना अनिवार्य्य है। अर्थात् जब किसी कार्य के विषय में कोई महत्त्वपूर्ण जटिल प्रश्न उपस्थित हो तो उस समय चित्त की वृत्ति की बहिर्मुखता अर्थात् दृश्य जगत की अनेकता से समेट कर अन्तर्मुख अर्थात् अपने आप (एकता) में स्थिर कर लेना चाहिए। जबतक वृत्ति बहिर्मुख रहती है, तब तक व्यक्तित्व का अहङ्कार और अनेकता के भाव बने रहते हैं, परन्तु ज्योंही वृत्ति अन्तर्मुख अर्थात् अपने अन्दर स्थिर हुई त्योंही अनेकता, व्यक्तित्व का अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ के द्वैत भाव लोप होकर उस कार्य में मन एकाग्र हो जाता है। यह एकत्व भाव की आत्माकार वृत्ति ही कर्मों की सफलता की कुञ्जी है; क्योंकि सब कामनाओं की पूर्ति तथा सब सफलताओं एवं सब सुखों का असीम ख़ज़ाना आत्मा ही है और वह अखिल विश्व में एक है; अतः आत्माकार वृत्ति होने से अखिल विश्व के साथ एकता हो जाती है। फलतः जो सङ्कल्प होता है उसी में सफलता प्राप्त की जा सकती है। किसी भी कार्य के विषय की कोई भी ग्रन्थि चाहे वह कितनी ही जटिलता से उलझी हुई क्यों न हो—इस साधन से बड़ी सुगमता से सुलझ सकती है। संसार में दार्शनिक ज्ञान तथा लौकिक विज्ञान सम्बन्धी जितनी सफलताएँ लोगों को प्राप्त हुई हैं और होती हैं तथा बड़े-बड़े कार्यकर्त्ताओं और वीर पुरुषों को जो-जो विजय प्राप्त हुई और होती है, वह कहीं बाहर से नहीं आतीं; किन्तु आत्मा के प्रसाद से ही प्राप्त होती है अर्थात् दार्शनिकों के चित्त की वृत्ति जब अन्तर्मुख होकर आत्मा में एकाकार

हो जाती है, तभी वे अपने-अपने लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ होते हैं और वैज्ञानिक लोग जो समय-समय पर विश्व को चकित करने वाले चमत्कारिक आविष्कार ढूँढ़ निकालते हैं वे भी इसी साधन से। इसी तरह युद्ध करते समय जब वीर योद्धाओं के चित्त की वृत्ति अत्यन्त एकाग्र हो जाती है, उस समय लड़ने-लड़ाने और राग, द्वेष आदि द्वैत भाव और व्यक्तित्व का अहङ्कार मिट जाता है और उस एकाकार अवस्था में ही वे विजयी होते हैं।

सारांश यह कि जो इस रहस्य को अच्छी तरह समझ कर दृढ़तापूर्वक एक निश्चय से अपने चित्त की वृत्तियों को बहिर्मुखता से हटा कर अन्तर्मुख करने में समर्थ होता है वह अपनी इच्छानुकूल सफलता अवश्य प्राप्त कर सकता है। अधिक महत्त्व के काम में चित्त की वृत्ति को अधिक समय तक अन्र्मुख (एकाग्र) करने की आवश्यकता रहती है और थोड़े महत्त्व का काम थोड़े समय में सिद्ध हो सकता है। किसी भी काम के करते समय जब इस तरह वृत्ति आत्मा में जुड़ जाती है तब "अमुक कार्य मैं कर रहा हूँ, इसका परिणाम यह होगा, इसके सिद्ध होने पर मुझे इतना लाभ होगा, मेरी इतनी ख्याति या मान होगा" इत्यादि द्वैत भाव उस समय बिल्कुल ही नहीं रहते, किन्तु कर्त्ता, करण और कर्म सब एक हो जाते हैं और तब सफलता स्वतः अपने अन्दर ही प्राप्त हो जाती है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

—गी० अ० ९-२२

अर्थ—जो व्यक्ति अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मुझे भजते हैं अर्थात् सब प्रकार के द्वैत भाव को मिटा कर मुझ सर्वान्तर्यामी आत्मा में चित्त की वृत्ति को लगाते हैं उन नित्य योगयुक्त अर्थात् निरन्तर सबके साथ एकता के भाव में जुड़े हुए, आत्माकार वृत्ति वालों का, योग (अप्राप्त पदार्थों

की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त पदार्थों की रक्षा) में सब का आत्मा-परमात्मा किया करता हूँ, यानी उनकी सफलता में सारा विश्व सहायक होता है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥
—गी० अ० २-५०

अर्थ—इस लोक में समत्व* बुद्धियुक्त संसार के व्यवहार करने वाला, भले-बुरे दोनों प्रकार के कर्मों से अलिप्त रहता है। इसलिए तू सर्वभूतात्मैक्य साम्यभाव में जुट कर, कर्म कर, क्योंकि सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव ही कर्मों में कौशल है। अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव में जुट कर कर्म करने वाला कर्मों का अधि-पति हो जाता है; अतः सफलता उसको स्वतः प्राप्त है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
—गी० अ० ४-१८

अर्थ—कर्म में अकर्म अर्थात् यह अनित्य, असत यानी सदा परिवर्तन शील संसार जो कर्मरूप है, इसमें अकर्म अर्थात् एक, निर्विकार, सत्य आत्मा को; तथा उस एक (किसी का कार्य न होने से) अकर्म रूप सत्य आत्मा में इस संसार-प्रपञ्च को जो पुरुष देखता है अर्थात् जो अनेकों में एक और एक में अनेक देखता हुआ सदा व्यवहार करता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान, एकत्व भाव में जुड़ा हुआ (महात्मा), कर्मों की पूर्णावस्था को पहुँचा हुआ होता है।

परन्तु जो आत्म-विमुख होकर संशय-युक्त अथवा सङ्कल्प-विकल्प युक्त मन से कार्य करता है उसको सफलता नहीं मिलती।

---

* समता का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

—गी० अ० ४-४०

अर्थ—मूर्ख और श्रद्धा* हीन अर्थात् अपने आप पर भरोसा न रखने वाला यानी स्वावलम्बन से रहित और संशयात्मा* का नाश होता है। संशय आत्मा को इस लोक और परलोक दोनों में सफलता एवं सुख अर्थात् मुक्ति (स्वतन्त्रता) नहीं है।

अज्ञानियों को अपने आप अर्थात् अपने अन्दर रहने वाले सर्वव्यापी आत्मा पर भरोसा नहीं होता, किन्तु किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए वे दूसरों पर ही निर्भर रहते हैं। कई लोग कर्मों की सफलता के लिए आत्मा से भिन्न अदृश्य देवी-देवता, भूत-प्रेत आदि का आश्रय लेकर जप, तप, व्रत, अनुष्ठान आदि से उनको प्रसन्न करने की चेष्टाएँ करते रहते हैं; कई ग्रह-नक्षत्र आदि के शुभाशुभ फलों पर विश्वास करके उनके अनिष्ट फल के भय* से ज्योतिषियों के अधीन रहते हुए उनके आदेशानुसार मुहूर्त्त और उनकी बताई हुई रीति के बिना कोई भी कार्य नहीं करते और ग्रहों की अनुकूलता के लिए ज्योतिषी जी की आज्ञानुसार ग्रह-शान्ति के जप, पाठ-पूजा, दानादि में समय, शक्ति और पदार्थों का अपव्यय करते हैं, कई मूढ़ लोग अपने पूर्व जन्म के सञ्चित कर्मों से अपने आपको बंधा हुआ मान कर कर्मों की सफलता जड़-प्रारब्ध के अधीन छोड़, स्वयं जड़ बने हुए रहते हैं; कई निर्मल आत्मा अपने आपको सर्वथा अयोग्य समझ कर दूसरे मनुष्यों की कृपा पर निर्भर रहते हैं और कई लोग अपने सब कामों का भार अपने से भिन्न ईश्वर पर छोड़ कर उसकी दया के भिखारी बने हुए हैं। इस तरह के परावलम्बी लोगों का कभी एक निश्चय नहीं होता, किंतु

---

* श्रद्धा, संशय और भय का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिये।

वे सदा संशय और वहम में ही डूबे रहते हैं, अतः उनको सफलता तो कहाँ, किन्तु उल्टी दुर्गति होती है।

दान*

अपनी आमदनी का कम से कम दसवाँ हिस्सा परोपकार* अर्थात् लोकोपयोगी कार्यों में अवश्य लगाना चाहिए। यदि अपनी आमदनी की मात्रा बहुत अल्प हो तो भी यह सङ्कोच न करना चाहिए कि इसमें से क्या दिया जाय; किन्तु जितनी आमदनी हो उसी का दसवाँ हिस्सा अवश्य देना चाहिए। क्योंकि दान की योग्यता उसकी मात्रा पर नहीं होती, किन्तु देने वाले के भाव पर ही होती है। अधिक सामर्थ्य वालों के अधिक दान की जितनी योग्यता है उतनी ही कम सामर्थ्य वालों के कम मात्रा के दान की योग्यता होती है। जिनके पास द्रव्यादि पदार्थ न हों—विद्या, बल, बुद्धि आदि गुण हों—वे अपने इन गुणों का दान कर सकते हैं। जैसे विद्वान अध्यापन द्वारा अपनी विद्या का लाभ दूसरों को पहुँचा सकता है, उसी तरह बलवान अपने बल द्वारा निर्बलों को भय से बचा सकता है; बुद्धिमान अपनी सद्बुद्धि की सम्मति द्वारा लाभ पहुँचा सकता है और ज्ञानी पुरुष ज्ञानोपदेश द्वारा लोगों को कृतार्थ करता हुआ संसार के भय से मुक्त कर सकता है। अभय दान की महिमा सब दानों से अधिक है। परन्तु दान सात्विक होना चाहिए।

> दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
> देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्॥
>
> —गी० अ० १७-२०

अर्थ—दान देना आवश्यक है, ऐसा भाव मन में रख कर, प्रत्युपकार की इच्छा न रखते हुए अर्थात् उस दान के बदले में कोई कार्य करवाने,

* उदारता तथा परोपकार का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिये।

किसी प्रयोजन की सिद्धि, मान, कीर्ति अथवा इस लोक या परलोक के किसी फल की इच्छा न रखते हुए—देश, काल और पात्र की योग्यता देख कर दान देना सात्विक दान कहा गया है।

देश, काल और पात्र से मतलब जिस देश में, जिस काल में और जिस व्यक्ति को जिस पदार्थ की अत्यन्त आवश्यकता हो अथवा जिससे उसका कष्ट दूर होकर वास्तविक हित होता हो या जिस पात्र को दान दिया जाय उसका आचरण सात्विक हो और वह उस दान का सदुपयोग करके अपना तथा औरों का कल्याण करने की योग्यता रखता हो, उसी तरह का दान करना चाहिए।

दान से दो तरह के लाभ हैं। एक तो सांसारिक पदार्थों का त्याग* करने से उनमें ममत्व की आसक्ति नहीं रहती। दूसरा क्षुधा; तृषा आदि शारीरिक वेगों के शान्त न होने से एवं त्रिविध ताप से पीड़ित रहने के कारण तथा अज्ञानवश मानसिक अयोग्यता रहने से लोग आत्मिक उन्नति नहीं कर सकते; इसलिए इन त्रुटियों को दूर करने के लिए दान करना सबका कर्त्तव्य है।

संसार में सब लोग अन्योन्याश्रित हैं अर्थात् एक-दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रखते हैं। इसलिए एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए त्याग* करना सबका कर्त्तव्य है। जो स्वयं त्याग करता है उसकी आवश्यकताएँ दूसरे लोग पूरी करते हैं; अतः दान से वस्तुतः स्वयं अपना ही उपकार होता है; दूसरों पर कोई एहसान नहीं। दूसरों पर एहसान करने के भाव से दान नहीं करना चाहिए।

दान का दुरुपयोग

रजोगुणी पुरुषों के विषय-भोगों की पूर्ति के लिए रजोगुणी पदार्थों का दान देकर उनकी विषय-वासनाओं को उत्तेजना देना, दान का दुरुपयोग है।

---

* त्याग का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

उससे धन, समय और पुरुषार्थ की हानि के अतिरिक्त लोगों का भी अनिष्ट होता है। और आत्मिक उन्नति में बाधा पहुँचती है; क्योंकि कुपात्रों को दान देने से दुराचर और दुर्गुणों की वृद्धि होती है और वे लोग जनता को पीड़ा देते हैं, इसलिए उससे दान देने वाले तथा समाज—सबकी हानि होती है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥
—गी० अ० १७-२१

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥
—गी० अ० १७-२२

अर्थ—परन्तु प्रत्युपकार (बदले में अपना उपकार करवाने) अथवा फल के उद्देश्य से बहुत क्लेशपूर्वक जो दान दिया जाता है वह राजसी दान कहाता है।

विपरीत देश, विपरीत काल और कुपात्रों को जो अनिष्टकारक दान तिरस्कार-पूर्वक दिया जाता है वह तामसी होता है।

जिस तरह—पुत्र-जन्म, पुत्र-पुत्री के विवाह, मान-वृद्धि एवं त्यौहार आदि के हर्ष के अवसरों पर प्रतिष्ठा और कीर्ति बढ़ाने के उद्देश्य से बड़े-बड़े रजोगुणी-तमोगुणी उत्सव, नाच-रङ्ग और भोजनादि करने, बधाइयाँ बाँटने, खुशामदियों एवं भाटों आदि को धन लुटाने आदि में; धर्मात्मा कहलाने की कीर्ति और स्वर्गादि फल प्राप्ति के उद्देश्य से तीर्थाटन करके तथा ग्रहण, संक्रान्ति आदि पर्वों पर कुपात्र सण्डे-मुसण्डों एवं पण्डे-पुरोहितों को धन और पदार्थ देने आदि में; व्रत-उपवासादि करके कुपात्रों को—उनसे बदले की सेवा लेने के भाव से—पहरावनी आदि देने तथा ब्राह्मण-भोजन करवाने आदि में; अपने आत्मीयों के रोगादि शारीरिकष्टक

आने पर उक्त कष्ट-निवृत्ति के उद्देश्य से कुपात्रों को अनेक प्रकार के दान देने, स्वादिष्ट पदार्थ खिलाने तथा मनुष्यों के खाद्य पदार्थ पशु-पक्षियों को खिलाने आदि में और प्रियजनों की मृत्यु के अवसर पर प्रेत-कर्म तथा उनके निमित्त ब्राह्मण और बिरादरी को जिमाने के बड़े-बड़े आडम्बर करने आदि में जो समय, शक्ति और धन का अपव्यय किया जाता है वह राजसी-तामसी दान है। इस तरह के आडम्बर करने वालों को स्वयं बड़ा क्लेश होता है और जिनको धन दिया जाता है तथा भोजन खिलाया जाता है उनका महान् अनिष्ट और तिरस्कार होता है। इसके अतिरिक्त कुपात्रों को दिए हुए उस दान से दूसरे अनेक प्रकार के अनर्थ होते हैं।

इस राजसी-तामसी कृत्यों में समय, शक्ति और धन का अनाप-सनाप अपव्यय करने से सारी आयु उन्हीं के करने तथा उनके निमित्त द्रव्योपार्जन करने में बीत जाती है और इन कामों के निमित्त द्रव्योपार्जन करने में बहुत से कुकर्म यानी राक्षसी व्यवहार भी करने पड़ते हैं, जिनसे बड़ी दुर्दशा होती है और सात्विक आचरण न बनने से अपना वास्तविक श्रेय-साधन नहीं हो सकता—जो इस मनुष्य-जन्म का सच्चा कर्त्तव्य है और जो इस मनुष्य-देह ही में प्राप्त हो सकता है—अन्य किसी भी देह में नहीं।

पितृ-कर्म

प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः

—गी० अ० १७-४ उत्तरार्द्ध

अर्थ—तमोगुणी लोग मरे हुओं (पित्रों) तथा जड़ पदार्थों को पूजते हैं।

मृतक के पीछे श्राद्ध, तर्पण एवं भोजनादि प्रेत-क्रियाएँ करने का यह उद्देश्य है कि साधारण जनता में तमोगुण की प्रधानता होने के कारण सूक्ष्म-आध्यात्मिक विचार की योग्यता नहीं रहती, किन्तु स्थूल शरीर ही में उनकी अत्यन्त आसक्ति रहती है। जिससे वे प्रायः असद् व्यवहार करते

रहते हैं; इसलिए उनको बुरे कर्मों से बचाने और शुभ कर्मों में प्रवृत्त करने के लिए उनके चित्त में यह विश्वास जमाने की आवश्यकता रहती है कि इस स्थूल शरीर के मरने पर भी जीवात्मा नहीं मरता, किन्तु वह परलोक में दूसरा शरीर धारण करके, यहाँ किये हुए अपने कर्मों का फल भोगता है और मरने पर भी उसका सम्बन्ध पीछे रहने वालों से बना रहता है और उनके अच्छे-बुरे आचरणों का फल भी उसको पहुँचता है। यह विश्वास जमाए रखने के लिए ही प्रेत-कर्म का विधान किया गया है, ताकि जीवात्मा के नित्यत्व, एकत्व तथा अच्छे-बुरे कर्मों के फल आगे अवश्य भोगने के विश्वास से वे बुरे कर्मों से बचें और आस्तिक रहें; नहीं तो स्थूल शरीर ही को सब-कुछ मान कर वे नास्तिक हो जावेंगे और बुरे कर्मों में प्रवृत्त होंगे। इसलिए स्थूल बुद्धि वालों को प्रेत-कर्म अवश्य और ज्ञानियों को लोक-संग्रह के निमित्त करना उचित जान पड़े तो करने चाहिए। परन्तु ये श्राद्धादि प्रेत-कर्म सत् शास्त्रों में विधान की हुई विधि से, बहुत संक्षेप, सद्भावना तथा सात्विक वृत्ति से करने चाहिए। अधिक मात्रा में तथा अधिक समारोह से करने से उनमें रजोगुणी-तमोगुणी भावों की अत्यन्त प्रबलता हो जाती है, जिससे अपने आपको, दूसरों को तथा (आत्मा सर्वत्र एक होने से) मृतात्मा को, भी बहुत क्लेश होता है। मरे हुए आत्मीयों की शान्ति तथा यथार्थ तृप्ति तो उसके उत्तराधिकारियों के सात्विक आचरणों और उसके प्रति सात्विक भावनाओं से मिलती है, न कि भोजनादि आडम्बरों अथवा प्रेत-कर्मों से।

किसी आत्मीय की मृत्यु पर शोक* करके चित्त को दुखित न करना चाहिए; क्योंकि शरीर तो जन्मने-मरने वाला ही है और जीवात्मा कभी मरता नहीं, केवल रूपों का परिवर्तन होता है, इसलिए शोक करना अयोग्य है।

---

* तृतीय प्रकरण में शोक का खुलासा देखिए।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

—गी० अ० २।२७

अर्थ—क्योंकि जो जन्मता है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मरता है उसका जन्म भी निश्चित है, इसलिए इस अपरिहार्य (अनिवार्य्य) बात का तुझे शोक करना उचित नहीं।

देहीनित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

—गी० अ० २-३०

अर्थ—हे भारत! सब वेदों का यह देही अर्थात् जीवात्मा सदा अवध्य है अर्थात् कभी मरता नहीं, इसलिए तुझको किसी भी भूत प्राणी के मरने का शोक करना उचित नहीं है।

जीवात्मा कभी जन्मता-मरता नहीं। अपने पूर्व संस्कारों से इस संसार में जितना काम करने को वह देह धारण करता है उतना हो जाने पर देह को छोड़ कर अपने संस्कारों के अनुसार दूसरी देह धारण करता है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।

—गी० अ० २-१३

अर्थ—जिस प्रकार देह धारण करने वाले जीवात्मा को उस देह में बालपन, जवानी और बुढ़ापा आता है उसी प्रकार दूसरी देह प्राप्त हुआ करती है। इस विषय में बुद्धिमानों को मोह नहीं होता।

भारतवासियों के पतन के कारणों में से दान का दुरुपयोग भी एक प्रधान कारण है। जब से यहाँ व्यावहारिक वेदान्त का आचरण छूटा तब से लोग अपने व्यक्तिगत अहङ्कार, व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि, मान, प्रतिष्ठा

तथा पारलौकिक स्वर्गादि सुख प्राप्ति के अन्ध-विश्वास से इन नैमित्तिक व्यवहारों में शक्ति, समय और धन का इतना दुरुपयोग करने लगे और कर रहे हैं कि सारी आयु इन आसुरी कर्मों में ही बीत जाती है। यद्यपि समय, शक्ति और धन के सदुपयोग करने से इस लोक में सुख-शान्ति और स्वतन्त्रता के साथ जीवन यापन करते हुए सच्चे और अक्षय सुख की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु उन्हीं के इस तरह के दुरुपयोग से भयानक पतन, सुख-समृद्धि का नाश, पराधीनता तथा आत्मविमुखता हुई है और जबतक इस तरह के नैमित्तिक व्यवहारों में शक्ति, समय और धन का इस प्रकार दुरुपयोग होता रहेगा, तबतक अवस्था सुधरनी असम्भव है।

तप

आत्मिक उन्नति के इच्छुक को यज्ञ और दान के साथ-साथ सात्विक भाव से तप करना भी आवश्यक है। तप कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार का होता है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते॥

—गी० अ० १७-१४

अर्थ—देवों की जिनमें माता-पिता*, गुरु*, और स्त्री के लिए पति* अथवा जिनमें दैवी सम्पद् के गुणों की अधिकता हो, ऐसे व्यक्ति—जो प्रत्यक्ष देव हैं—भी सम्मिलित हैं; गी० अ० १८-४२ में वर्णित गुणों वाले ब्राह्मणों* की; आयु और विद्या ज्ञानादि गुणों में जो बड़े हों उनकी तथा बुद्धिमानों* की पूजा; अन्दर और बाहिर की पवित्रता*; सरलता*; ब्रह्मचर्य* और अहिंसा*—यह शारीरिक तप कहा जाता है।

---

*देव पूजन, मातृ-भक्ति, गुरु-भक्ति, पति-भक्ति द्विज-पूजन, प्राज्ञ-पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा-सत्य और स्वाध्याय का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

—गी० अ० १७-१५

अर्थ—किसी के मन को उद्वेग न करने वाले, सत्य*, प्रिय और हित के वचन बोलना और स्वाध्याय* अर्थात सद् विद्याओं का अभ्यास—यह वाचिक तप कहा जाता है ।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

—गी० अ० १७-१६

अर्थ—मन की प्रसन्नता*; सौम्य भाव; मननशीलता; मन का संयम और निष्कपटता—यह मानसिक तप कहलाता है ।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधंनरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥

—गी० अ० १७-१७

अर्थ—श्रद्धा* युक्त और निःस्वार्थ* भाव से किया हुआ यह तीन प्रकार का तप सात्विक कहा जाता है ।

आसुरी तप

इसके विपरीत श्रद्धारहित, किसी स्वार्थ-सिद्धि के लिए, अपने और दूसरों के शरीरों को कष्ट देकर तथा दूसरों की हानि करने के उद्देश्य से किए जाने वाले राजसी-तामसी तप आसुरी भाव के होते हैं और वे सर्वथा त्याज्य हैं ।

---

*इन सब का खुलासा तीसरे प्रकरण में देखिए ।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥

—गी० अ० १७ १८

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥

—गी० अ० १७-१९

अर्थ—सत्कार, मान और पूजा के लिए दम्भ* से जो अस्थिर और अनिश्चित तप किया जाता है वह राजसी कहा जाता है ।

शरीर को पीड़ा देकर अथवा दूसरों की हानि करने के उद्देश्य से मूढ़ लोग दुराग्रह* से जो तप किया करते हैं—वह तामस कहलाता है ।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥

—गी० अ० १७-५

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥

—गी अ० १७-६

अर्थ—मूढ़ लोग काम*, राग* और हठ* के आवेश में, दम्भ* और अभिमान* युक्त, सच्छास्त्र वर्जित घोर तप करके शरीर में रहने वालों भूतों के समूह को तथा अन्तःकरण में स्थित सर्वान्तर्यामी मुझको भी क्लेश देते हैं, उनको तू आसुरी निश्चय वाला जान ।

तात्पर्य्य यह कि बड़े, बूढ़े, सद्गुरु, विद्वान, बुद्धिमान तथा श्रेष्ठ एवं सात्विक आचरण वाले महापुरुषों आदि का श्रद्धा और निःस्वार्थ भाव

---

* इनका खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिये ।

से आदर-सत्कार एवं सेवा-शुश्रूषा करके उनका सत्सङ्ग प्राप्त करने से स्त्री-पुरुष आत्मिक उन्नति के मार्ग में अग्रसर हो सकते हैं; क्योंकि सत्सङ्ग के प्रभाव से व्यक्ति उन्नति करता है और कुसङ्ग से गिरता है। इसी तरह शरीर को साफ़-शुद्ध रखना; सबसे सरलता का बर्ताव करना; इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए मर्यादित भोग भोगना; अपनी तरफ से किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न देना; किसी का दिल न दुखे ऐसी सत्य, मधुर और हित कर वाणी बोलना; सच्छास्त्रों का अध्ययन और अभ्यास करना; अपना मन प्रसन्न और दूसरों के प्रति सौम्य भाव रखना अर्थात् दूसरों के हित का चिन्तन करना और अन्तःकरण शुद्ध रखना; इत्यादि कायिक, वाचिक और मानसिक तप से स्त्री-पुरुषों के आचरण सात्विक होते हैं। परन्तु मूर्ख लोग इस लोक में अपने शरीर और उसके सम्बन्धियों की स्वार्थ-सिद्धि तथा परलोक में स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति अथवा कीर्ति, मान और पूजा प्राप्त करने के लिए हठपूर्वक शीत, उष्ण, भूख, प्यास सहन करके तथा दूसरी अनेक प्रकार की कष्टदायक क्रियाएँ करके शरीर को क्लेश देते हैं—जिस तरह शीतकाल में आश्रय और वस्त्र-सहित रहना तथा शरीर पर ठण्डा जल डालना; गर्मी में कड़ी धूप में; जलती रेत में पड़े रहना और अग्नि के सम्मुख बैठना; निराहार और निर्जल व्रत, उपवासादि करना; कठिक और नुकीली चीज़ें शरीर में चुभाना; हठ करके दीर्घ काल तक खड़े रहना या किसी एक स्थिति में बैठे रहना; पत्थर, कङ्कर आदि संयुक्त कठिन स्थलों पर लेटना; शरीर के नख-केशादि बढ़ाना और मैलेकुचैले रहना आदि—आसुरी भाव का तप करते हैं, जिससे स्वयं क्लेश पाते हैं और दूसरों को भी पीड़ा देते हैं, अतः वे लोग (इस तरह के आसुरी तप से) आत्म-विमुख होकर नीचे गिरते हैं।

यज्ञ, दान और तप तथा अन्य कृत्य करते समय "ॐ तत्सत्" मन्त्र का उच्चारण अथवा चिन्तन अवश्य करते रहना चाहिए। यह मन्त्र आत्मा परमात्मा के सर्वत्र समान भाव से व्यापक होने का द्योतक है। इसके

अर्थ सहित चिन्तन करते हुए सब काम करने से दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार-जन्य जो अनेक प्रकार के दोष हैं वे मिटने तथा आचरण सात्विक होने में बड़ी सहायता मिलती है।

आसुरी व्यवहारों का त्याग

शरीर और उसके सम्बन्धी पदार्थों का गर्व करके दूसरों का तिरस्कार अथवा घृणा करना तथा अपने शरीर और उसके सम्बन्धियों के स्वार्थ के लिए दूसरों को दबाना, कष्ट देना और हानि पहुँचाना—आसुरी व्यवहार हैं जो सर्वथा त्याज्य हैं।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
—गी० अ० १६-१८

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
—गी० अ० १६-१९

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
—गी० अ० १६-२०

अर्थ—अहङ्कार*हठ*, काम* और क्रोध* में पक्के रहते हुए वे असुर लोग अपने और दूसरों के शरीर में रहने वाले मुझ सर्वात्मा परमात्मा से द्वेष*करके मेरा (आत्मा का) तिरस्कार* करते हैं। उन द्वेष करने वाले, क्रूर, दुराचारी, नीच मनुष्यों को मैं (सबका आत्मा) हमेशा इस संसार में आसुरी योनियों ही में गिराता हूँ। हे कौन्तेय! वे मूढ़ लोग प्रत्येक जन्म में आसुरी योनि पाते हुए मुझ (सर्वात्मभाव) को कभी प्राप्त नहीं होते, किन्तु उत्तरोत्तर अधम गति को जाते हैं अर्थात् नीचे गिरते रहते हैं।

---

*अहङ्कार, हठ, गर्व, काम, क्रोध, द्वेष और तिरस्कार का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्‌ ॥
—गी० अ० १६-२१

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥
—गी० अ० १६-२२

अर्थ—काम*, क्रोध* और लोभ*—ये तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं, अपने नाश करने वाले अर्थात् आत्म-विमुख करने वाले इन तीनों का त्याग करना चाहिए। हे कौन्तेय! इन तीन नरक के द्वारों से जो मनुष्य पार हो जाता है वह अपना कल्याण करता है और उत्तम गति अर्थात् सब प्रकार के बन्धनों से छूट कर मोक्ष पाता है

आसुरी भावापन्न व्यक्ति अपने शरीर और उसके सम्बन्धियों का बड़ा गर्व करते हैं—"मैं उत्तम कुल में उत्पन्न, बड़ा बलवान्, रूपवान, सामर्थ्यवान, धनाढ्य, सुखी, प्रतिष्ठित, भोगी और सिद्ध हूँ; मेरा बड़ा कुटुम्ब और वैभव है; मेरे समान दूसरा कौन है; मैं बड़ा बुद्धिमान्, विद्वान्, ज्ञानी और धर्मात्मा हूँ; मैं यज्ञ करता हूँ, दान देता हूँ और अनेक प्रकार से मौज उड़ाता हूँ; सब कोई मेरी आज्ञा में हैं; कई शत्रुओं को मैंने मार डाला; कईयों को फिर मारूँगा; इतनी धन-सम्पत्ति मेरे पास है; फिर दूसरों को दबा कर अधिक सम्पत्ति प्राप्त करूँगा; अपने धन-बल, जन-बल विद्या-बुद्धि और इज्ज़त के बल से दूसरों को खूब छकाऊँगा और सब पर शासन करूँगा।" इस तरह वे लोग अनेक प्रकार से दूसरों को दबाते एवं घृणा और तिरस्कार करते हैं, यहाँ तक कि दूसरों को अपने पास बिठाने और छूने में भी पातक मानते हैं। हीन स्थिति वालों की प्राकृतिक आवश्यकताएँ पूरी होने में भी बाधक होते हैं और उनको निर्दयतापूर्वक

*काम, क्रोध और लोभ का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

क्लेश देने में ही वे अपनी धार्मिक और सामाजिक प्रतिष्ठा मानते हैं। इस तरह के आसुरी व्यवहारों से बहुत दुर्गति होती है और नाना भाँति के बन्धनों से कभी छुटकारा नहीं होता; क्योंकि शरीर, उसके सम्बन्धी तथा उनके भोग्य पदार्थ—सभी,प्रतिक्षण बदलने वाले और नाशवान् होते हैं। इनमें जो अच्छाई और अनुकूलता प्रतीत होती है वह सत्-चित्-आनन्द स्वरूप आत्मा के आभास की है। अज्ञानियों को इन प्रतिक्षण बदलने वाले नाम रूपात्मक पदार्थों ही में जो सुख प्रतीत होता है वह भ्रम है। वास्तव में सुख अपनी और सबकी आत्मा में है; आत्मा ही के प्रतिबिम्ब से पदार्थों में सुख प्रतीत होता है; आत्मा से भिन्न कोई सुख नहीं है। पदार्थों में जो प्यारापन है वह भी आत्मा ही का है अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप एक आत्मा ही सबको प्यारा है और वही सब में व्यापक होने से सब प्यारे लगते हैं। आत्मा से भिन्न इन प्रतिक्षण बदलने वाले पदार्थों में स्वयं अपना प्रियपन कुछ भी नहीं है। इसलिए इनको आत्मा से भिन्न मान कर जो इनमें आसक्त होता है तथा किसी को अपना और किसी को पराया मान कर किसी में राग और किसी से द्वेष करता है वह सदा दुखी रहता है और उसकी निरन्तर अधोगति होती है—परतन्त्रता से उसका कभी छुटकारा नहीं होता। अतः आत्म-विमुख करने वाले इन आसुरी व्यवहारों से सर्वथा बचना चाहिए।

गायन

आत्मप्रेम

[राग—भैरवी ताल कैरवा]

जग में प्यारे लगे सब अपने लिए ।
पति पत्नी को, पत्नी पति को, पिता पुत्र प्यारे अपने लिए ।
माता सुता भगिनी और बन्धु; मित्र भी प्यारे लगते अपने लिए ॥१॥
न्यात जात और सगे सम्बन्धी, गुरु शिष्य प्यारे अपने लिए ।
राजा रैयत ग्राम नगर और, देश भी प्यारा लगता अपने लिए ॥२
अन्न धन वैभव वस्त्र आभूषण, भूमि भवन प्यारे अपने लिए ।
पशु पक्षी घन वृक्ष लता फल, नदी पहाड़ प्यारे अपने लिए ॥३॥
आश्रम वर्ण उपाधि बुद्धि बल, मान बड़ाई प्यारी अपने लिए ।
आँख नाक मुख कान त्वचा मन, देह भी प्यारी लगती अपने लिए ॥४॥
वेद शास्त्र और धर्म कर्म सब, ईश्वर भी प्यारा लगता अपने लिए ।
देवी देव स्वर्गादि लोक पुनः,मुक्ति भी प्यारी लगती अपने लिए ॥५॥
जो कोई जिसको अपना माने, उसको वह प्यारा लगता अपने लिए ।
माने बेगाना जो कोई जिसको,वह नहीं प्यारा लगता अपने लिए ॥६॥
जितने पदार्थ अपने माने, शेष बेगाने होते अपने लिए ।
अपनी वस्तु जब होवे बेगानी,फिर नहीं प्यारी लगती अपने लिए ॥७॥
लगते पदार्थ जब तक प्यारे, अच्छे लगे जब वे अपने लिए ।
मान किसी को अपना बेगाना, दुख उपजाते क्यों अपने लिए ॥८॥
असली प्यारा अपना आप है, जो सदा ही अच्छा लगता अपने लिए ।
सच्चिदानन्द आप है सब में, इसीसे प्यारे सब अपने लिए ॥९॥
अपने आपको जो सब में जाने, सबको वह प्यारा लगता अपने लिए ।
सब "गोपाल" नहीं कोई दूजा, यही समझ मन अपने लिए ॥१०॥

(बृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण के मन्त्र ५,६ के आधार पर)

दूसरी श्रेणी अर्थात् वनस्पति वर्ग के मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के सात्विक आचरण

दूसरी श्रेणी अर्थात् वनस्पति वर्ग के स्त्री-पुरुषों को अपने-अपने शरीर के आचरण सात्विक बनाने के साथ-साथ अपने कुटुम्ब के साथ सात्विक व्यवहार करना चाहिए अर्थात् कुटुम्ब के लोगों के साथ अपनी एकता का ज्ञान रखते हुए उनसे प्रेम * पूर्ण बर्ताव करना चाहिए। अपने व्यक्तित्व की कुटुम्ब के साथ एकता करके अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को कुटुम्ब के स्वार्थों के अन्तर्गत समझते हुए उसकी भलाई के लिए यत्न करते रहना चाहिए। अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्ध के लिए कुटुम्ब का अनिष्ट कदापि न करना चाहिए। पुत्र-पुत्रियों को अपने माता-पिता, * स्त्री को अपने पति * तथा उनके अभाव में जो अपने घर में बड़े हों उनका प्रेम और श्रद्धापूर्वक आदर, सत्कार, सेवा-शुश्रूषा, भरण-पोषण और रक्षण करना तथा अपने अच्छे आचरणों से उनको सदा प्रसन्न रखना चाहिए। अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार तथा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की दूसरों के साथ एकता करने और मन तथा इन्द्रियों के संयम के अभ्यास का सबसे प्रथम और महत्त्व का साधन यही है। यदि अपने पूज्यों में रजोगुणी-तमोगुणी भावों की अधिकता हो—जो अपने सात्विक आचरणों के प्रतिबन्धक होते हों—तो विनीत और सरल भाव से उनको समझाने का उद्योग करना चाहिए, परन्तु उनके राजसी-तामसी भावों के सम्मान के लिए अपने सात्विक व्यवहारों की अवहेलना करना उचित नहीं; क्योंकि पूज्य बुद्धि, पूज्यों के शरीर के प्रति रखने का कर्त्तव्य है, न कि उनके रजोगुणी-तमोगुणी भावों के प्रति! यदि अपने सात्विक आचरणों से उनको—उनके राजसी-तामसी भावों के कारण—विक्षेप होता हो तो

---

* प्रेम, मातृ-पितृ भक्ति और पति-भक्ति का खुलासा तीसरे प्रकरण में देखिए।

उसमें अपना दोष नहीं; यह दोष उनके भावों का है। परन्तु अपने राजसी-तामसी व्यवहारों द्वारा अपने पूज्यों को विक्षुब्ध न करना और जान-बूझ कर उनकी अवहेलना कदापि न करनी चाहिए। अपने भरसक ऐसा यत्न करना चाहिए कि उनको कोई दुःख न हो।

पुरुष को अपनी स्त्री के साथ एकता का ज्ञान रखते हुए उससे पूर्ण प्रेम * का बर्ताव करना चाहिए, क्योंकि स्त्री-पुरुष का आपस का द्वैत भाव मिट कर सच्ची एकता होने से दूसरों के साथ एकता के अनुभव के अभ्यास में बहुत सुगमता होती है। इसलिए स्त्री-पुरुष का परस्पर में अनन्य प्रेम होना चाहिए और एक-दूसरे के साथ सम-भाव की एकता होनी चाहिए। एक दूसरे के सुख, दुःख, शोभा, निन्दा, मान, अपमान, हानि, लाभ आदि को अपना समझना चाहिए। परमात्मा के—जगत रूपी—विराट शरीर का, पुरुष दाहिना और स्त्री बायाँ अङ्ग है—अतः जैसा बर्ताव अपने आधे अङ्ग के साथ किया जाता है वैसा ही स्त्री-पुरुष को आपस में करना चाहिए। संसार के व्यवहार के लिए जितनी आवश्यकता पुरुष की है उतनी ही स्त्री की; और उस व्यवहार का सुधरना-बिगड़ना जितना पुरुष पर निर्भर है उतना ही स्त्री पर; तथा गृहस्थ के व्यवहार में जितना महत्त्व पुरुष का है, स्त्री का उससे किसी अंश में कम नहीं हो सकता। भूख, प्यास, काम, क्रोध, लोभ, शोक, मोह, भय, राग, द्वेषादि वेगों की तथा सुख-दुःख, शीत, उष्ण, मानापमान आदि द्वन्द्वों की वेदना जैसी पुरुष को होती है वैसी ही स्त्री को। आत्मिक उन्नति और ईश्वर-प्राप्ति का जितना अधिकार और जितनी योग्यता पुरुष को है उतनी ही स्त्री को। तात्पर्य यह कि अन्य सब बातों में स्त्री-पुरुष की योग्यता समान है; केवल इतना ही अन्तर है कि वह संसार को गर्भ में धारण करती है, इसलिए उसमें साधारणतया अपने जोड़े के पुरुष से

---

* प्रेम का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

रजोगुण की कुछ अधिकता होना आवश्यक और स्वाभाविक है और उसके शरीर की बनावट भी उस कार्य के अनुकूल होने से पुरुष से कुछ भिन्न है; अतः पुरुष की अपेक्षा स्त्री का शरीर साधारणतया कोमल और सुकुमार होता है। रजोगुण की अधिकता के कारण उसकी प्रकृति साधारणतया पुरुष की अपेक्षा कुछ अधिक चञ्चल और धैर्य कम होता है, जिससे शरीर के वेगों तथा द्वन्द्वों से उसका मन शीघ्र ही विचलित हो जाना स्वाभाविक है। इसलिए पुरुषों द्वारा उसके पालन-पोषण, रक्षण, शिक्षण आदि में विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता रहती है। अतः स्त्री के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन अच्छी तरह करने का पुरुष को विशेष ध्यान रखना चाहिए। सम्मान और स्नेहपूर्वक उसका अच्छी तरह पालन-पोषण करना; उसके शारीरिक वेगों तथा द्वन्द्वों को नियमित-रूप से शान्त करके उसे सदा सन्तुष्ट और प्रसन्न रखना; दुराचारियों से उसकी रक्षा करना, धार्मिक और नैतिक व्यवहारों की शिक्षा देकर, उसे कुमार्गों तथा दुःखों से बचाने का यथाशक्ति प्रयत्न करते रहना; उसको अपने कर्त्तव्य समझा कर तथा उसके आचरण सात्विक बनवाकर उसकी आत्मिक उन्नति में सहायक होना; अपनी सामर्थ्यानुसार वस्त्राभूषणों से सुसज्जित रखना, परन्तु फ़िजूलख़र्ची और सामर्थ्य से अधिक व्यय करने से रोकना; अन्ध-विश्वासों और मिथ्याडम्बरों के हानिकारक व्यवहार छुटाने का यत्न करना और संसार के व्यवहारों में उसको अपने बराबर की हिस्सेदार समझना यह प्रत्येक पुरुष का कर्त्तव्य है। इन कर्त्तव्यों से उदासीन रहना या अवहेलना करना अथवा शरीर से, मन से तथा वाणी से स्त्री के साथ बुरा बर्ताव करना, उसको दुःख देना अथवा तिरस्कार या घृणा करना, अपने कर्त्तव्य से विमुख होना है। इस तरह की विषमता का बर्ताव एकत्व भाव के विरुद्ध होने से परमात्म-प्राप्ति अर्थात् मुक्ति में बाधक है।

माता-पिता को अपने पुत्र-पुत्रियों—सबका एक समान प्रेम* और वात्सल्य*

---

* प्रेम और वात्सल्य का खुलासा तीसरे प्रकरण में देखिए।

भाव से पालन-पोषण तथा रक्षण करना; उन सबको अपनी शक्ति एवं योग्यतानुसार धार्मिक और नैतिक सुशिक्षा दिलाना; उनके शरीर बलवान तथा आरोग्य रहने के लिए आहार-विहार में पूरी सावधानी रखना तथा व्यायाम आदि से उनको सुदृढ़ बनाना; विलासिता, फ़िज़ूलख़र्ची, व्यसन, कुसङ्ग तथा कुमार्ग में न पड़ने देकर उनका जीवन सादा और सात्त्विक बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। पुत्र को अपने व्यवसाय की तथा पुत्रियों को गृहस्थी के कामों और गृहशिल्प की विशेष शिक्षा देना; पुत्र तथा पुत्रियों के साथ एकसा सद्व्यवहार करना; कटु शब्द और गालियाँ न बोलना; मिथ्या—काल्पनिक भय दिखा कर उनका मन कमज़ोर न करना तथा झूठ बोलने की आदत न डालनी चाहिए। बालकों के पालन-पोषण, रक्षण तथा शिक्षण का कर्त्तव्य बहुत ही आवश्यक और महत्व का है। इसमें उपेक्षा, उदासीनता, आलस्य या प्रमाद कभी न करना चाहिए। शरीर की रक्षा के लिए मोटे वस्त्र पहिनने की उनकी आदत डालना तथा बारीक और निर्लज्जता के वस्त्र न पहिनाना चाहिए।

पुत्र-पुत्री का विवाह जब वे विवाह के उद्देश्य को अच्छी तरह समझने लग जाय, उनको विवाह की वास्तविक आवश्यकता प्रतीत होने लगे तथा अपने जोड़ के वर अथवा वधू की उपयुक्तता एवं अपने भावी सुख-दुःख के विषय में विचार कर सम्मति देने की योग्यता आ जाय तब करना चाहिए। वर की आयु वधू से साधारणतया ४-५ वर्ष अवश्य बड़ी होनी चाहिए। वधू के चुनने में मुख्य सावधानी इस बात की रहे कि वह सच्चरित्र, सुशीला, आरोग्य, श्रेष्ठ गुणों वाली हो तथा उसके कुल के आचरण अपने अनुकूल और चरित्र शुद्ध हो—इन बातों का अच्छी तरह अनुसन्धान कर लेना चाहिए। वधू के पिता की आर्थिक स्थिति तथा प्रतिष्ठा एवं वंश-परम्परा आदि का विचार बहुत गौण समझना तथा दहेज आदि के आर्थिक लाभ पर बिलकुल ही ध्यान न रखना चाहिए, यहाँ तक कि दहे , के ठहराव का प्रश्न विवाह सम्बन्ध में आना ही न चाहिए। विवाह से आर्थिक

लाभ की आशा रखना बहुत ही नीचता का भाव है और सात्विक व्यवहार के बिलकुल विरुद्ध है।

पुत्री के लिए सबसे अधिक सावधानी उसकी जोड़ के वर को चुनने में करनी चाहिए अर्थात् आयु में वर कन्या से ४-५ वर्ष बड़ा हो; आरोग्य, बलवान् एवं सुदृढ़ शरीर वाला हो; विद्या, बुद्धि, सुशीलता तथा सच्चरित्रता आदि गुणों और सौम्य-भाव से युक्त हो ; अच्छे कुल में उत्पन्न तथा उसके माता-पिता के आचरण शुद्ध हों। इसके बाद वर के पिता की आर्थिक स्थिति तथा प्रतिष्ठा का विचार करना चाहिए। इन बातों को देख कर सत्संकल्प के साथ कन्या का विवाह करना चाहिए। कन्या के विवाह में अपने किसी प्रकार के वर्तमान या भविष्य के आर्थिक लाभ अथवा मान-प्रतिष्ठा का विचार करना घोर पाप है, अतः ऐसे विचारों को उत्पन्न भी न होने देना चाहिए। ~~यदि सन्तान होने के पहले लड़की विधवा हो जाय तो उसका योग्य वर के साथ पुनर्विवाह कर देना चाहिए। जिस तरह कुँआरी लड़की का विवाह करना उसके माता-पिता आदि का पवित्र कर्त्तव्य है उसी तरह निःसन्तान, युवावस्था प्राप्त विधवा के लिए भी समझना चाहिए, क्योंकि जवान स्त्री किसी भी दशा में अरक्षित न रहनी चाहिए।~~ युवावस्था प्राप्त लड़कियों के अरक्षित रहने से अनेक प्रकार के अनर्थ होते हैं। बालकों के विवाह-सम्बन्ध का एकमात्र उद्देश्य उनके भावी सुख एवं उनकी आत्मिक उन्नति पर ही रहना चाहिए। उनसे अपने इस लोक या परलोक के व्यक्तिगत स्वार्थ साधन करने का ज़रा भी लक्ष्य न रखना चाहिए।

अपनी हैसियत से बहुत ऊँचे दर्जे का विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए लालायित न होना, किन्तु विशेष ध्यान अपनी समता अर्थात् समान गुण एवं समान योग्यता वालों के साथ सम्बन्ध करने पर ही रखना चाहिए, क्योंकि वास्तविक सुख समान स्थिति, समान-आहार व्यवहार तथा समान विचार वाले सम्बन्ध में ही होता है। असमान सम्बन्ध से लम्बी मुद्दत के लिए सुख नहीं होता।

विवाह सम्बन्ध में जन्मपत्रियों में लिखे हुए ग्रहों के मिलान करने की प्रथा से हानि के सिवाय लाभ कुछ भी नहीं है; क्योंकि जन्मपत्रियों के अनुसार ग्रहों के फल ठीक-ठीक मिलें, यह निश्चय नहीं है। अनेक अवसरों पर तो बहुत विपरीत फल होते देखे गए हैं। ऐसी अवस्था में जन्मपत्रियों का मिलान करके नाहक वहम उत्पन्न नहीं करना चाहिए। जात-पाँत के सङ्कीर्ण विचारों के कारण योग्य वर-वधू की जोड़ मिलना वैसे ही बहुत दुर्लभ है, इतने पर भी सौभाग्यवश जब कोई योग्य जोड़ मिल जाती है तो ज्योतिषीजी महाराज की ग्रह-शान्ति हुए बिना वे बीच में टाँग अड़ा कर योग्य सम्बन्ध जुटने में बाधा लगा देते हैं। फलतः बहुत से बाल और बेजोड़ विवाह होने में जन्मपत्री का मिलान भी एक प्रधान कारण हो जाता है। सुख दुःख जन्मपत्री मिलाए हुए विवाहों में भी उसी प्रकार होता है जिस प्रकार बिना मिलाए हुओं में! बल्कि जन्मपत्री बिना मिलाए विवाहों में जोड़ ठीक बैठने से अधिक सुख की सम्भावना रहती है। ऐसी दशा में जन्मपत्रियों के मिलान पर विश्वास और वहम करके विवाह-सम्बन्ध जैसे पवित्र और जन्म भर के सुख-दुःख निर्भर करने वाले गुरुतर कार्य के लिए स्वार्थी ज्योतिषियों के अधीन रहना बड़ी मूर्खता है।

विवाह-व्यवस्था

विवाह-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी आजकल बहुत वाद-विवाद चलता है। कई लोग तो सन्तानों के विवाह पूर्ण-रूप से माता-पिता और उनकी अनुपस्थिति में बड़े भाई आदि अभिभावकों के अधीन रखना ही श्रेयस्कर मानते हैं, एवं जिनका विवाह होता है उनका इस विषय में एक शब्द उच्चारण करना भी नीति-विरुद्ध एवं अधर्म समझते हैं; और कई लोग विवाह करने वालों ही को पूर्ण स्वतन्त्रता देने के पक्ष में हैं। प्रथम पक्ष वाले विवाह का उद्देश्य केवल सन्तानोत्पत्ति ही मानते हैं, जिससे मृत पितरों को परलोक में पिण्डोदक पहुँचाने वाला वंश चलता रहे और दूसरे

पक्ष वाले स्थूल शरीर के विषय-भोगादि सुखों पर ही प्रधान लक्ष्य रखते हैं। परन्तु यदि विचार कर देखा जाय तो दोनों ही पक्ष व्यक्तिगत स्वार्थ और आधिभौतिक सुखों की दृष्टि पर ही अवलंबित हैं। वास्तव में विवाह का सच्चा उद्देश्य, स्त्री-पुरुष का—परस्पर एकता के निःस्वार्थ प्रेम-भाव से रहते हुए और आपस के सहयोग से एक-दूसरे के शरीरों की आवश्यकताएँ पूरी करते हुए तथा प्राकृतिक वेगों को मर्य्यादित-रूप से शान्त करते हुए—अपनी-अपनी आत्मोन्नति करने के साथ-साथ समाज को सुव्यवस्थित रखकर उसकी उन्नति में भी सहायक होना है। सन्तानोत्पत्ति तथा आधिभौतिक विषय-सुख तो इसके गौण फल हैं। वे तो विवाह के बिना भी नर-मादा के संयोग से पशु-पक्षियों में भी होते ही हैं।

विवाह के उक्त पवित्र एवं सच्चे उद्देश्य की सिद्धि के लिए, वर-वधू के माता-पिता तथा उनकी अनुपस्थिति में अन्य अभिभावकों को—किसी भी प्रकार के अपने व्यक्तिगत इहलौकिक तथा पारलौकिक स्वार्थ-सिद्धि का विचार न रख कर—केवल उनके (वर-वधू के) हित की दृष्टि से उनके उपयुक्त जोड़े को अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करके चुनना चाहिए; फिर उनको एक-दूसरे के गुणों से अच्छी तरह परिचित करा देने के उपरान्त दोनों को अपने सम्मुख बैठाकर उनका आपस में वार्तालाप करवाना चाहिए। इसमें लज्जा या संकोच बिलकुल न रखना चाहिए। इस तरह करने पर वे एक दूसरे को पसन्द कर लें तब उनका सम्बन्ध करना चाहिए। वर-वधू की प्रसन्नतायुक्त सम्मति के बिना तथा माता-पिता आदि के चुने बिना कोई भी सम्बन्ध होना उचित नहीं। चाहे प्रथम विवाह हो या पुनर्विवाह; इसी पद्धति से होना सुखदायक हो सकता है।

विवाह एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण कार्य है, जिस पर केवल इस जन्म का ही नहीं किन्तु भविष्य के जन्मों का भी सुधारना-बिगाड़ना निर्भर है; इसलिए इस विषय में बहुत ही सोच-विचार तथा सावधानी से काम लेने की आवश्यकता है। यह कार्य यदि माता-पिता आदि के ही अधीन रहे

तो वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से अथवा अज्ञानवश या वर-वधू की रुचि न जानने के कारण अयोग्य जोड़ा चुन सकते हैं जिससे दोनों का भविष्य बिगड़ सकता है—जैसे कि वर्तमान में अधिकतर-हिन्दू समाज में हो रहा है; और यदि युवक-युवतियों पर ही छोड़ दिया जाय तो अनुभव की कमी तथा यौवन के वेग में अत्यन्त विषयाशक्ति होने के कारण, आवेश में आकर-परिणाम पर दीर्घ दृष्टि से विचार किए बिना—उनके अयथार्थ निर्णय की सम्भावना अधिक रहती है, जिससे अयोग्य जोड़ा चुना जा सकता है और जिसका परिणाम आगे जाकर भयङ्कर होता है, जैसे कि आजकल के सभ्य समाज में बहुतायत से देखा जाता है। अतः इस सम्बन्ध में माता-पिता तथा वर-वधू दोनों को अपना-अपना कर्त्तव्य यथायोग्य पालन करना चाहिए। जिन बड़ी आयु के वर-वधू के माता-पिता आदि अभिभावक न हों उनको भी अपने-अपने सुहृदय जनों की सम्मति से अपने विवाह योग्य जोड़े को चुनना चाहिए। विवाह सम्बन्ध अपने अनुकूल आयु तथा उपयुक्त गुणों की जोड़ मिलने ही से सुखदायक तथा शुभ परिणाम-जनक होता है—स्वार्थ और भोग कामना से कदापि नहीं! बेजोड़ विवाह का दुष्परिणाम केवल विवाह करने वालों ही को नहीं, किन्तु सब समाज को भोगना पड़ता है।

भाई-बहिन तथा दूसरे कुटुम्बियों के साथ सात्विक व्यवहार

भाई और बहिन यदि अपने से बड़े हों तो उनको भी पूज्य मानना, उनसे अपनी एकता के प्रेम एवं आदर-सम्मान युक्त व्यवहार करना, आवश्यकता पड़ने पर उनकी सेवा करना और उनके सुख-दुःख में सहायक होना चाहिए और यदि अपने से छोटे हों तो उनके साथ अपने पुत्र-पुत्री के समान एकता के प्रेमयुक्त वात्सल्य भाव का व्यवहार करना तथा उनकी शारीरिक एवं मानसिक उन्नति में सहायक होना। इसी तरह जो दीन और अनाथ कुटुम्बी अपने आश्रय में हों उनका प्रेम सहित पालन-पोषण,

रक्षण-शिक्षण प्रसन्न चित्त से करना चाहिए। यदि वे बालक हों तो अपनी सन्तानों की तरह उनके प्रति वात्सल्य भाव का व्यवहार करना और यदि बड़ी आयु के हों तो पूज्यभाव से उनके साथ आदर-सम्मानपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। सब के सुख-दुखों में सहायक होना और सबकी वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी करने तथा उनके वास्तविक हित साधन के व्यवहारों में सहयोग देना चाहिए।

कौटुम्बिक अत्याचार

भारतवर्ष ने जब से आध्यात्मिकता को केवल निवृत्ति के उपयोगी समझकर संसार के व्यवहारों से उसको अलग कर दिया अर्थात् जब से दर्शन-शास्त्रों का विचार केवल पर्वतों की कन्दराओं में रहने वाले, संसार से विरक्त—त्यागी महात्माओं ही के उपयोग की वस्तु समझी जाने लगी—गृहस्थी लोग उससे सर्वथा वञ्चित होगए—तब ही से यहाँ के लोगों में जड़ता बढ़ती गई और इस समय यहाँ अधिक संख्या आसुरी प्रकृति के लोगों ही की हो गई है। ये लोग स्वयं अपने कुटुम्ब के साथ भी एकता के प्रेमयुक्त बर्ताव नहीं करते तो फिर अखिल-विश्व के साथ एकता के प्रेमयुक्त बर्ताव की तो बात ही कैसी! अपने इस लोक तथा परलोक के व्यक्तिगत स्वार्थों तथा शरीर के क्षणिक सुख के लिए विषय करके ये लोग कीड़ों-मकड़ों की तरह सन्तान उत्पन्न तो करते रहते हैं, परन्तु उचित रीति से उनके पालन-पोषण, रक्षण-शिक्षण के लिए कुछ भी कष्ट उठाना नहीं चाहते। पुत्र द्वारा अपना (शरीर का) नाम अपने पीछे बहुत काल तक चलता रहे तथा मरने के बाद परलोक में—अपने को स्थूल शरीर मिलने तथा उसके भूखे प्यासे मरने की कल्पना करके, वहाँ उस शरीर को—जल तथा अन्न का पिण्ड पहुँचता रहता है इस विश्वास से पुत्र उत्पन्न करने के लिए (यदि साधारण तौर से उत्पन्न न हो तो) बड़े-बड़े यत्न करते हैं और उसके उत्पन्न होने पर बहुत हर्ष मनाते हैं। यदि

यत्न करने पर भी पुत्र उत्पन्न न हो तो किसी लड़के को ख़रीद कर या गोद लेकर बड़ी ख़ुशी मनाते हैं तथा ऐसे पुत्रों को बड़े लाड़-प्यार से रखते हैं; परन्तु लड़की बिना यत्न के ही उत्पन्न हो जाने पर बहुत शोकातुर होते हैं और उससे बड़ी घृणा करते हैं। कई लोग तो उसको जन्मते ही मार डालते हैं और जो नहीं मारते वे भी सदा उसका तिरस्कार करते हुए उसके मरने की कामना करते रहते हैं और यदि वह मर जाय तो बड़े प्रसन्न होते हैं; क्योंकि उससे उनको अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आशा कुछ भी नहीं रहती—नाहक़ उसको खिलाने पिलाने आदि पर खर्च करना और कष्ट उठाना पड़ता है। अपना उत्तराधिकारी धनवान बना रहे—इस व्यक्तिगत मोह तथा प्रतिष्ठा के लिए पुत्र के वास्ते तो अनेक तरह के कुकर्म करके, न्याय-अन्याय से धन बटोर कर छोड़ जाना अपना परम धर्म समझते हैं, परन्तु कन्या को—विवाह और गौने आदि के अवसर पर समाज में अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के लिए लाज़िमी दहेज़ देने (सो भी कन्या को नहीं, किन्तु उसके ससुर आदि अपने सम्बन्धी को) के अतिरिक्त—कुछ भी देना अन्याय मानते हैं। चाहे कन्या कितनी ही दीन अवस्था या विपत्ति में क्यों न हो, चाहे वह पिता की नादेहन्दी के कारण सास-ननद आदि के तानों से कोसी जाकर मर ही क्यों न जाय, परन्तु उसको कुछ भी देकर विपत्ति से बचाना या सन्तुष्ट करना अपने कर्त्तव्य से बाहिर मानते हैं।

पुत्र—चाहे औरस हो या ख़रीदा हुआ दत्तक, घर की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी वही होता है। उसकी अनुपस्थिति में बाप-दादे आदि सात पुश्तों की औलाद के पुरुष उत्तराधिकारी हो जाते हैं; परन्तु अपने शरीर से उत्पन्न कन्या का अपने पिता की सम्पत्ति में रत्ती भर भी अधिकार नहीं; क्योंकि उससे अपने शरीर का नाम नहीं चलता और न उसका दिया हुआ पिण्डोदक ही पहुँच सकता है—ऐसा भ्रम धँसा हुआ रहता है।

अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए बालक-बालिकाओं को बेच देने में भी

इन्हें कोई सङ्कोच नहीं। धन-प्राप्ति के लिए अथवा लोगों में अपना मान बढ़ाने तथा मरने के बाद पिण्डोदक पहुँचाते रहने वाली औलाद उत्पन्न होने के लिए पुत्र का विवाह छोटी अवस्था में ही कर देते हैं, परन्तु इन व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए किए हुए बाल और बेजोड़ विवाहों से होने वाले, बालकों के सर्वनाश का इनके चित्त पर कोई असर नहीं पड़ता। धन लेकर अथवा भविष्य में आर्थिक लाभ की आशा से अथवा किसी बड़े आदमी के ससुरे, साले आदि कहलाने के मान के लिए अथवा लड़की के ऋतुमती होने के पहिले विवाह करने के पुण्य कमाने की लालसा से अथवा रजस्वला होने के बाद अविवाहित रखने के कल्पित पाप तथा लोक-निन्दा से बचने के लिए अथवा (इनमें से कोई भी अर्थ सिद्ध न होवो) लड़की को घर से जल्दी बाहिर करके उससे पीछा छुड़ा कर निश्चिन्त होने के स्वार्थ के लिए उसको चाहे जैसे अयोग्य, बालक, बुड्ढे, मूर्ख, रोगी, गँवार, विधुर तथा जिसके एक या अधिक स्त्रियाँ और सन्तान मौजूद हों ऐसे वर को भी—जहाँ तक बन सके जल्दी—दे डालना इनके नज़दीक बिल्कुल ही उचित और न्यायसङ्गत है। जबतक कुँवारी कन्या घर में रहती है तब-तक इनको बड़ी ही चिन्ता रहती है, मानों इनके सिर पर कोई भारी बोझ लदा हुआ है और जबतक उसको घर से निकाल बाहिर नहीं करते तब-तक इनकी नींद हराम होजाती है; परन्तु जिस दिन उसके विवाह का स्वाँग करके उसको घर से विदा कर देते हैं उस दिन माता पिता सुख की नींद सोते हैं। फिर वह दी हुई लड़की चाहे तुरन्त ही विधवा होकर जन्मभर रजस्वला होती रहे तथा विवश होकर कुकर्म एवं गर्भपात करके अपना सर्वनाश कर ले और कितना ही कष्ट क्यों न पावे, इनकी जाने बला। उसका दूसरा विवाह वे हरगिज़ नहीं करते, क्योंकि पुनर्विवाह करने से तो इनके मतानुसार इनका धर्म डूब कर स्वयं घोर नरक में पड़ने का भय रहता है और न करने से कुछ भी व्यक्तिगत पाप लगने की आशङ्का नहीं रहती, किन्तु बड़े धर्मात्मा बने रहते हैं।

स्त्रियों पर अत्याचार

इसी तरह अपनी पत्नी को भी अधिकांश लोग केवल अपने शरीर के विषय-भोग तथा स्वार्थ-साधन की जड़ सामग्री समझते हैं। पत्नी जबतक रूप-यौवन आदि गुणों के कारण विषय-भोग के उपयुक्त रहती है, अपने शरीर को सुख देने वाले आचरण और सेवा-टहल करती है, अपनी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करती, अपनी स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध कुछ भी उज़्र नहीं करती और पुत्र उत्पन्न करती है तबतक तो उससे खूब प्यार करके जैसा वह कहे—अन्धे होकर उसीके अनुसार—किया जाता है और जैसा नाच वह नचावे वैसा ही नाचा जाता है। उस दशा में संसार में उसके बराबर और कोई पदार्थ नहीं होता। परन्तु जब उसके रूप-यौवनादि गुण अपने अनुकूल नहीं होते अथवा वह आज्ञापालन या सेवा आदि में त्रुटि करती है अथवा पुरुष के मनमाने अत्याचार सहन करने में आनाकानी करती है तो फ़ौरन ही प्यार की नज़र से देखे जाने के अधिकार खो बैठती है और मोहब्बत उससे हट कर दूसरी किसी मनचाही स्त्री पर डेरा जमाती है; तब उसका (स्त्री का) केवल झिड़कियों तथा गालियों द्वारा ही सत्कार नहीं किया जाता, किन्तु मार-पीट द्वारा पूजन भी किया जाता है और पुत्र न जनने पर तो वह किसी काम की ही नहीं रहती। कई शक्तिशाली एवं सम्पन्न लोग—एक-एक पुरुष—अपने भोग के लिए अनेक पत्नियाँ तथा उपपत्नियाँ रख कर ही सन्तोष नहीं करते, किन्तु दूसरों की पत्नियों से व्यभिचार करने में भी अपनी बड़ी प्रतिष्ठा समझते हैं; परन्तु जो इतनी निरङ्कुशता नहीं कर सकते वे भी थोड़ा-सा बहाना मिलने पर एक पत्नी की मौजूदगी में ही दूसरी लाकर दोनों का सर्वनाश कर देते हैं; और स्त्री के वन्ध्या होने पर (यद्यपि वन्ध्या होने का दोष केवल स्त्रियों का ही नहीं होता) या आज्ञा का उल्लंघन करने पर या किसी दीर्घ रोग ग्रसित होने पर या सच्चा-झूठा इलज़ाम लगने पर—यहाँ तक कि कटुभाषिणी होने पर

भी—फ़ौरन दूसरी पत्नी लाना परम धार्मिक कृत्य माना जाता है और एक पत्नी के मरने पर दूसरी लाने में तो पुरानी जूती फेंक कर नई लाने में जितना विचार होता है उतना भी शायद नहीं होता।

पुरुष की सम्पत्ति पर उसके जीवन-काल में तो स्त्री को किसी प्रकार का अधिकार होने का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु पुरुष के मरने पर यद्यपि स्त्री जन्म भर वैधव्य भोगती हुई जड़वत् घर के एक कोने में बैठी, सड़-सड़ कर जीवन बिताने के लिए बाध्य की जाती है, परन्तु पति की सम्पत्ति में—सिवाय परिवार की सेवा-टहल करने के एवज़ में रूखा-सूखा अन्न खाने के और कोई अधिकार नहीं रहता। विधवा होने पर वह इतनी अशुभ और तिरस्कृत बना दी जाती है कि उसका दर्शन होना भी अमङ्गल समझा जाता है; किसी भी माङ्गलिक कृत्य में वह सम्मिलित नहीं हो सकती—यहाँ तक कि उसके सगे भाई भी उससे तिलक और रक्षाबन्धन नहीं करवाते। मनुष्यपन के कुछ भी अधिकार यदि शेष रहे तो, वे भी विधवा होने पर सब छीन कर जड़-पाषाणादि के साथ जैसा व्यवहार किया जाता है उससे भी हीन व्यवहार उसके साथ किया जाता है। इस बात का ज़रा भी विचार नहीं किया जाता कि पुरुषों की तरह वह भी तो एक ज्ञानवान प्राणी है; अतः उसको भी मान-अपमान, घृणा-तिरस्कार, सुख-दुखादि की वेदना होती होगी। उसके लिए अच्छे पदार्थ खाना-पीना, साफ-सुथरे वस्त्र पहनना, हँसना, खेलना, किसीसे बोलना, मन बहलाना तथा घर से बाहिर पैर रखना भी बड़ा भारी पाप है; किन्तु भूख, प्यास एवं शीतोष्ण आदि से उसे कष्ट देना ही श्रेष्ठ धर्म समझा जाता है और उसके मरने की बाट बड़ी उत्सुकता से देखी जाती है। विधवाओं पर इस तरह के अमानुषी अत्याचार करके ही इनको सन्तोष नहीं होता, किन्तु लावारिस माल समझकर उन बेचारियों पर हरेक मनुष्य बलात्कार करने को तैयार रहता है; अनेक अवसरों पर तो उनके ससुराल और पीहर के कुटुम्बी लोग ही उनको फुसला कर उनका सतीत्व नष्ट करते हैं और जब गर्भ हो जाता

है तो पहिले तो तीर्थों तथा गुप्त-स्थानों में भेज कर गर्भपात कराने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु यदि इसमें सफलता न हो तो या तो वे बेचारी विषादि के प्रयोग से मार डाली जाती हैं या उन्हें घर से निकाल कर समाज में अपना मुख उज्ज्वल किया जाता है। इस तरह घर से निकली हुई वे बेचारी या तो निर्दयी गुण्डों के हथकण्डों में पड़ कर घोर विपत्ति और कष्ट उठाती हैं या वेश्या-वृत्ति से नारकीय जीवन व्यतीत करती हैं अथवा इतनी यातनाओं से तङ्ग आकर आत्मघात कर लेती हैं। इस तरह के पैशाचिक कृत्य इन लोगों की दृष्टि में धर्म्म-सम्मत हैं और उन अबलाओं का इस तरह सर्वनाश करने वाले धर्मात्मा हो बने रहते हैं, परन्तु जवान विधवाओं का विवाह करके उनको सद्गृहस्थिनी बनाना बड़ा पापाचार माना जाता है।

पहिले ज़माने में जब सती दाह की अमानुषी प्रथा प्रचलित थी तब तो बेचारी विधवाओं को अग्नि में जलने की दारुण वेदना घण्टे-आध घण्टे मूर्च्छित होने तक ही सहन करनी पड़ती थी; परन्तु अब तो उनको बिना अग्नि के ही जलते रहने की मर्म वेदना जन्म भर भोगनी पड़ती है। इससे अधिक नृशंस-राक्षसी व्यवहार और क्या हो सकता है?

स्त्रियों को पर्दे के अन्दर बन्द रख कर सड़ाना, बुद्धि-विकास के साधन उनकी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारों को घूँघट से ढाँक कर बन्द कर रखना और बेचारियों को पिञ्जरे की चिड़िया बनाए रखना उच्चकोटि की मर्य्यादा मानी जाती है।

स्त्रियों को पर्दे के अन्दर इस वास्ते रक्खा जाता है कि पुरुष उन पर कुदृष्टि न डालें अर्थात् कुदृष्टि डालने का पाप तो करें पुरुष और उस पाप का फल भोगें बेचारी स्त्रियाँ! कैसा विचित्र न्याय है? मुँह बन्द करके पर्दे में रखना चाहिए कुदृष्टि डालने वाले पुरुषों को; परन्तु रक्खी जाती हैं निर्दोष अबलाएँ! यह बात ध्यान में रखने की है कि स्त्रियों को अधिकतर अपने ससुराल की तरफ़ के बड़ों से घूँघट करवाया जाता है, जिससे साबित

होता है कि घर के "बड़ेरे" ही कुदृष्टि डालने वाले पापी हैं, इसलिए घर के पुरुषों के पाप का फल भी, उनके बदले बेचारी स्त्रियों को भोगना पड़ता है।

अबलाओं की पुकार

(तर्ज़ लावनी)

टेर

सज्जन सुनो दे कान, धर्म का जो दम भरते हो।
नारी नर से कहे, ज़ुल्म हम पर क्यों करते हो॥

अन्तरा

ब्रह्मा जी ने आदि काल में सृष्टि रची सारी।
एक भुजा से हुआ पुरुष और दूजी से नारी॥
दोनों मिल कर गृहस्थ करो यह आज्ञा करी जारी।
आप जगत के पिता हुए और हम भी महतारी॥
हम बिना आपका कोई काम नहीं चलता।
नारी को दुख होने से धर्म नहीं पलता।
जप तप व्रत तीरथ यज्ञ दान नहीं फलता॥
धर्मशास्त्र के हैं ये वचन, ध्यान इन पर भी धरते हो।
नारी नर से कहे ज़ुल्म हम पर क्यों करते हो॥१॥
कन्या का जब होय जन्म तब दुखी आप होते।
मन्द हमारे भाग यह कह कर मन ही मन रोते॥
चीज़ निकम्मी जान हमें नफ़रत की नज़र जोते।
आरम्भ से बड़ी होत भायों का मल धोते॥

फिर आख़िर ब्याहने की नौबत आती है ।
बिन देखे भाले वर को दी जाती है ।
निर्दयी आपकी वज्रसी छाती है ॥
तुम अपने स्वारथ काज हमारा सब सुख हरते हो ।
नारी नर से कहे ज़ुल्म हम पर क्यों करते हो ॥२॥

चाहे वर बालक हो नादान मूर्ख होवे दुराचारी ।
बुड्ढा हो बीमार पहिले मौजूद भी हो नारी ॥
पशु दान देने में देखते पात्र सदाचारी ।
पर कुपात्र को दे देते हो कन्या बेचारी ॥
हम बिना उज्र उसके पीछे हो जातीं ।
बेजोड़ विवाह से ऊमर भर दुःख पातीं ।
सब सहती अत्याचार सदा गम खातीं ॥
और हरदम करतीं टहल आप फिर भी नहीं डरते हो ।
नारी नर से कहे ज़ुल्म हम पर क्यों करते हो ॥३॥

हो भले हमारे भाग आप से पहिले चली जावें ।
छोटी ऊमर में तो भी धन्य-धन्य कहवावें ॥
नहीं शोच फ़िकर का काम तुरन्त दूजी नारी आवे ।
फटी पगरखी फ़ेंक नई जूती जैसे लावे ॥
जिनके घर में बेटे पोते पोती हैं ।
सब अङ्ग शिथिल आँखों की मन्द ज्योती हैं ।
उनके लारे लग कन्याएँ रोती हैं ॥
करो इस तरह के अनर्थ आप नहीं, ईश्वर से डरते हो ।
नारी नर से कहे ज़ुल्म हम पर क्यों करते हो ॥४॥

दैवयोग से अगर आप के पीछे रह जातीं ।
जन्म भ्रष्ट हो जाय जगत में नहीं कोई साथी ॥

आठ बरस से साठ बरस की कब ऊमर आती ।
बिना आग हर वक्त सिलगती ज्यों भट्टी ताती ॥
नहीं एक पलक भी सुखका दम भर सकती ।
नहीं बोल-चाल हँस-खुशी ख्याल कर सकती ।
नहीं घर से बाहिर एक क़दम धर सकती ॥
कर हम पर यह अन्याय आप सुख मे विचरते हो ।
नारी नर से कहे ज़ुल्म हम पर क्यों करते हो ॥५॥

काया के जो धर्म छोड़ सकता नहीं कोई ।
योगी यती सूरमा पण्डित चाहे जो होई ॥
ब्रह्मा विष्णु महेश ऋषि और मुनि हुए जोई ।
कुदरत के नियमों को ज़रा नहीं पलट सके कोई ॥
इन विषयों के वेगों को किसने मारा ।
मन की चञ्चलता से अर्जुन भी हारा ।
फिर साधारण अबलाओं का क्या चारा ॥
तब नाहक़ हमको दोष लगाने पर क्यों उतरते हो ।
नारी नर से कहे ज़ुल्म हम पर क्यों करते हो ॥६॥

इस हालत पर भी हमको तुम ही फुसलाते हो ।
हम चाहें बचने को सख्त तुम ही डिगवाते हो ॥
धर्म भ्रष्ट जबरन करते जब मौक़ा पाते हो ।
फिर भी ठेकेदार धर्म के तुम कहलाते हो ॥
छल छिद्र जाल कर हम से पाप करवाते ।
जब काम पड़े तब आप अलग हो जाते ।
टीका कलङ्क का हमरे सिर लगवाते ॥
करो तुम ऐसे खोटे काम फिर भी शेखी में मरते हो ।
नारी नर से कहे ज़ुल्म हम पर क्यों करते हो ॥७॥

नारी नर से हाथ जोड़ कर अरज करै स्वामी ।
बन्द करो सब ज़ुल्म ख़ुशी होवे अन्तरयामी ॥
आपत् काल के धर्म विचारो मेटो बदनामी ।
दोनों आँख एकसी देखो दूर करो ख़ामी ॥

इस समय धर्म की बहुत हो रही हानी ।
हिन्दू जाती दब रही है चारों कानी ।
हम अबलाओं की हो रही है हैरानी ॥

ऋषि मुनियों की संतान धर्म अपना क्यों बिसरते हो ।
नारी नर से कहे ज़ुल्म हम पर क्यों करते हो ॥८॥

जब पत्नी और सन्तानों पर व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए इस तरह के अत्याचार किए जाते हैं तो क्रिया की प्रतिक्रिया (Action का Reaction) होना स्वाभाविक है । अतः पत्नी अपने व्यक्तिगत विषय-भोग, गहनों, कपड़ों एवं शौकनी के दूसरे साधनों के लिए तथा—परलोक में मिलने वाले सुखों के मिथ्या विश्वास से—धूर्तों को अनेक प्रकार के दान देने और तीर्थ, व्रत आदि के बड़े-बड़े आडम्बर करने आदि में शक्ति से अधिक ख़र्च करवा कर उनके निमित्त धन कमाने के लिए पति को जन्म भर तैली के बैल की तरह घुमाती है; और पिता-माता की वही आसुरी प्रकृति सन्तानों में आती है, फलतः वे लोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए पिता-माता को तङ्ग करते रहते हैं ।

इस तरह के आसुरी भावों के कारण ही इस देश की इतनी अधोगति हुई है और जब तक ये भाव नहीं सुधरेंगे अर्थात् जबतक स्त्री-पुरुषों में आपस में समता का व्यवहार न होगा; ~~जब तक पुरुष वर्ग स्त्री जाति का आदर करना नहीं सीखेंगे; जब तक उनको अपने बराबरी का साझेदार समझने नहीं लगेंगे तथा जब तक उनको अपने मनुष्यता के अधिकार से वञ्चित रक्खेंगे एवं जबतक कन्याओं के प्रथम विवाह की तरह विधवाओं~~

के पुनर्विवाह को भी श्रेष्ठ धर्म नहीं माना जायगा, तबतक इस देश की उन्नति होना असम्भव है।

इससे कोई यह न समझे कि इस देश में सभी लोग आसुरी प्रकृति के ही हैं; ऐसी बात नहीं है। कई सज्जन इस देश में भी उच्चकोटि के महात्मा हैं, जिनके प्रभाव ही से अभी तक इसका गौरव बना हुआ है—परन्तु कहने का प्रयोजन यह है कि अधिकांश लोग आधिभौतिक शरीरों के व्यक्तिगत स्वार्थों को ही सब कुछ मान कर व्यवहार करते हैं—जिनसे ऊपर उठे बिना उन्नति हो नहीं सकती। इसलिए जनता में सार्वजनिक साम्य भाव के प्रचार द्वारा स्वार्थ-त्याग की शिक्षा दी जानी चाहिए और स्वार्थ-त्याग का प्रारम्भिक कार्यक्षेत्र अपना कुटुम्ब है।

संयुक्त परिवार व्यवस्था

वर्तमान समय में व्यवहार में दार्शनिक विचारों का उपयोग छूट जाने के कारण अन्य श्रेष्ठ व्यवस्थाओं की तरह संयुक्त परिवार व्यवस्था का भी व्यतिक्रम हो जाने से इस देश के लोगों की जो अनेक प्रकार की हानियाँ हुई हैं उनको देख कर, स्थूल शरीर और उसके आधिभौतिक विषय सुखों को ही सब कुछ मानने वाले पश्चिमी संस्कृति के लोग भले ही आर्य्यों के इस संयुक्त परिवार व्यवस्था के सिद्धान्त को स्वावलम्बन का नाशक तथा महान् हानिकारक समझें, परन्तु जो आर्य्य संस्कृति केवल आधिभौतिक उन्नति को ही सच्ची उन्नति तथा केवल आधिभौतिक शरीर के सुखों को ही सच्चा सुख नहीं मानती, किन्तु आध्यात्मिक उन्नति और आध्यात्मिक सुखों को प्रधानता देकर आधिभौतिकता को उसी का प्रतिक्षण परिवर्तनशील दिखाव मात्र समझती है, वह इस संयुक्त परिवार व्यवस्था को—व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के लिए नहीं—किन्तु अपने स्वार्थों को दूसरों के स्वार्थों के अन्तर्गत मान कर दूसरों की आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक होने और दूसरों की सेवा तथा हित करने के सर्वात्म साम्य-भाव

-में जुड़ने के लिए आवश्यक और अत्यन्त उपयोगी समझती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि प्रत्येक व्यवस्था का शुभ और अशुभ-परिणाम उसके सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर है और यह सिद्धान्त सर्वोपरि है।

अपने कुटुम्ब के लोगों के साथ इस तरह एकता के ज्ञानयुक्त प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हुए दूसरे कुटुम्ब वालों से ईर्षा-द्वेष आदि के भाव न रखने चाहिए और अपने कुटुम्ब के धन-बल, जन-बल, मान-प्रतिष्ठा, कुलीनता, पवित्रता, उच्चता आदि का घमण्ड करके दूसरे कुटुम्ब वालों को दबाना नहीं चाहिए और न किसी का तिरस्कार ही करना चाहिए, क्योंकि जो दूसरे कुटुम्ब वालों से प्रेम का व्यवहार न करके उनको दबाते हैं और उनसे ईर्षा, द्वेष तथा घृणा करते हैं वे अपने कुटुम्ब वालों के साथ भी सात्विक व्यवहार नहीं कर सकते। दूसरे कुटुम्ब के लोगों को दबाने और उनसे ईर्षा, द्वेष* तथा घृणा* करने की प्रतिक्रिया अवश्य होती है जिससे अपने कुटुम्ब में भी परस्पर में एक दूसरे को दबाने एवं एक दूसरे से ईर्षा, द्वेष और घृणा के भाव उत्पन्न होते हैं; फलतः स्वयं अपना और अपने कुटुम्ब का उलटा अधःपतन होता है।

उपरोक्त रीति से अपने कुटुम्ब के साथ सात्विक आचरण करने से कौटुम्बिक बन्धनों से छुटकारा मिलता है।

तीसरी श्रेणी (पशु वर्ग) के मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के सात्विक आचरण

जिन लोगों का कार्यक्षेत्र जाति या समाज तक विस्तृत हो गया है, उन समाज-सेवियों को अपने शारीरिक और कौटुम्बिक व्यवहार सात्विक बनाने के साथ-साथ अपनी जाति या समाज के साथ सात्विक व्यवहार करना चाहिए अर्थात अपने व्यक्तित्व को सारे समाज के साथ जोड़ देना

* ईर्षा, द्वेष, घृणा का खुलासा-तृतीय प्रकरण में देखिये।

और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को समाज के स्वार्थों के अन्तर्गत समझना एवं समाज के साथ एकता का प्रेमयुक्त व्यवहार करके उसके सुख-दुःख में सहायक होना एवं उसकी धार्मिक, नैतिक और आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न करने में सहयोग देना चाहिए।

समाज सङ्गठन का यही प्रयोजन है कि गुणों, की समानता के कारण जिन लोगों के सामाजिक आचार, व्यवहार और विचार एक से हों, वे मिल कर परस्पर के सहयोग, सहानुभूति तथा एक-दूसरे के भय से बुरे कर्म करने से बचे रहें, ताकि लोक-मर्य्यादा विशृङ्खल न हो और सब कोई यथायोग्य, श्रेयस्कर व्यवहार करते हुए अपनी शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक उन्नति करने में अग्रसर होते रहें। इस उद्देश्य से प्रत्येक समाज अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार बुरे कर्मों से बचने और श्रेष्ठ आचरण करने के नियम बनाता है और समाज के सभ्य उन नियमों के अनुसार बर्ताव करके अपनी उन्नति करते हैं। इसलिए प्रत्येक मनुष्य के लिए समाज का सङ्गठन बहुत ही आवश्यक और हितकारक है। परन्तु समाज का वही सङ्गठन हितकर होता है जिसमें समान गुणों तथा समान आचार, विचार एवं व्यवहार वाले व्यक्ति ही सम्मिलित हों तथा वह समाज अपने नियमों में समय और परिस्थिति के अनुकूल आवश्यक संशोधन एवं परिवर्तन करता रहे; यदि इसके विपरीत होता है तो वही समाज दुःख-दायक और हानिकारक हो जाता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने समान गुणों वाले तथा अपने से मिलते-जुलते सामाजिक आचार, विचार व व्यवहार वाले पुरुषों के ही समाज में रहे और उस समाज की भलाई के लिए प्रयत्न करे। जिस समाज में रहे उसके नियमों के प्रतिकूल बर्ताव न करे; परन्तु यदि उन नियमों के पालन करने की सामर्थ्य न हो या उन नियमों का पालन करना अपने सात्विक आचरण के विरुद्ध पड़ता हो तो उन हानिकारक सामाजिक नियमों को बदलवाने का प्रयत्न करे और यदि उस प्रयत्न में सफलता न हो सके तो

उस समाज में रहने का आग्रह न करे; किन्तु प्रेमपूर्वक स्वयं उससे अलग होकर अपने अनुकूल आचार, विचार और व्यवहार के समाज में सम्मिलित हो जाय। किसी समाज में रह कर अपने अन्तःकरण के विरुद्ध उसके नियम पालन करना आत्म विमुख होना है और नियम पालन न करके उसमें रहना असद् व्यवहार है।

अपने समाज के लोगों के साथ एकता के ज्ञानयुक्त प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हुए दूसरे समाज के लोगों से ईर्षा-द्वेषादि के भाव न रखने चाहिए और अपने समाज के धन-बल, जन-बल, एवं मान, प्रतिष्ठा तथा पवित्रता आदि का गर्व करके अन्य समाज वालों को दबाना न चाहिए, न किसी का तिरस्कार ही करना चाहिए; क्योंकि जो दूसरे समाजवालों से प्रेम का बर्ताव न करके उनको दबाने की चेष्टा करते हैं तथा उनसे ईर्षा, द्वेष और घृणा के भाव रखते हैं वे अपने समाज वालों से भी प्रेमपूर्ण व्यवहार नहीं कर सकते। अन्य समाज के लोगों को दबाने और उनसे ईर्षा, द्वेष एवं घृणा करने की प्रतिक्रिया अवश्य होती है, जिससे अपने समाज में भी एक दूसरे को दबाने एवं एक दूसरे से ईर्षा, द्वेष और घृणा करने के भाव उत्पन्न हो जाते हैं जिससे स्वयं अपना और अपने समाज का अधःपतन होता है।

इस तरह अपने समाज के साथ सात्विक व्यवहार करने से अनेक प्रकार के सामाजिक बन्धनों से छुटकारा मिल जाता है।

सामाजिक अत्याचार

आजकल भारतवासियों के सामाजिक सङ्गठन में भी व्यक्तिगत स्वार्थ ही की प्रधानता है और वर्तमान सामाजिक सङ्गठन में रहते हुए मनुष्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत होने के बदले उलटी अधिक संकुचित हो जाता है, जिससे उन्नति के बदले उलटी अवनति होती है। प्रत्येक समाज के टुकड़े-टुकड़े होकर इतने फ़िरक़े बन गए हैं कि उनका दायरा बहुत ही

छोटा और सङ्कुचित हो गया है। प्रत्येक फ़िरक़ा अपने अत्यन्त सङ्कीर्ण नियमों की मज़बूत चहारदिवारी के भीतर इस तरह जकड़ कर क़ैद हो गया है कि उसका कोई भी व्यक्ति उससे बाहिर—किसी दूसरे फ़िरक़े के व्यक्ति के साथ—किसी प्रकार का सामाजिक व्यवहार नहीं कर सकता। इस तरह की सङ्कुचितता में सात्विक भावों के विचार भी उत्पन्न नहीं हो सकते। प्रत्येक फ़िरक़े के नियम प्रायः जन्म, मृत्यु और विवाह आदि सम्बन्धी रीति-रिवाज़ और रूढ़ियों का पालन करवाने तथा इन अवसरों पर अपने सभ्यों से लाज़िमी तौर पर बिरादरी और ब्राह्मणों के लिए मिष्टान्न-भोजन आदि के आसुरी आडम्बर करवाने तक ही परिमित होते हैं। इनके अतिरिक्त किसी प्रकार की धार्मिक, आर्थिक अथवा नैतिक भलाई या उन्नति पर कोई लक्ष्य नहीं रहता। उन फ़िरक़ों के नेता = पञ्च लोग अपने-अपने फ़िरक़े को अपनी मौरूसी जायदाद समझ कर उससे अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं और अपने नेतापन की प्रतिष्ठा के अभिमान में लोगों को दबाते तथा कष्ट देते हैं। किसी के घर में मृत्यु होने पर लाज़िमी तौर से उससे मिष्टान्न-भोजन करवा कर माल उड़ाते हैं। जिस व्यक्ति से ऐसे भोज करवाए जाते हैं वह—चाहे कैसा ही दीन हो अथवा अनाथ विधवा हो या नाबालिग़ बच्चा हो और मृत्यु भी चाहे ऐसे जवान की क्यों न हो, जिससे उसका घर एकदम तले बैठ जाय—फिर भी इन लोगों को उसके यहाँ माल उड़ाने तथा जहाँ तक बन सके बेचारे दीन-दुःखिया शोकातुर भोजन कराने वाले को तंग करने और दुःख देने में किसी प्रकार का तरस नहीं आता चाहे वे बेचारे दीन और अनाथ अपना घर एवं वस्त्राभूषण बेच डालें अथवा असहाय विधवाओं के जीवन निर्वाह के लिए कुछ भी साधन न रहने से चाहे वे अपना शरीर भी गिरवी क्यों न रख दें अर्थात् पेट की ज्वाला बुझाने और छोटे बच्चों को पालन करने के लिए उनको आततायियों की मज़दूरी करके अपने सतीत्व को भी तिलाञ्जलि देना पड़े, परन्तु बिरा-

दरी का यह प्रेत-भोज करना लाज़िमी है। यदि कोई अत्यन्त ग़रीबी के कारण ऐसे भोज (जिनको "कारज" कहते हैं) करने में असमर्थ होता है तो फिर वह समाज में मुँह दिखाने योग्य नहीं रहता और उसका "नाक कट गया" माना जाता है तथा वह समाज के लोगों से सदा कोसा जाता है। जब मृत्यु के अवसर पर भी इस तरह का राक्षसी व्यवहार होता है तब विवाहादि हर्ष के अवसरों की सामाजिक रीत-रिवाज़ों और भोज आदि के आसुरीपन का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। तात्पर्य्य यह कि वर्तमान के सामाजिक सङ्गठन में रहने से मनुष्य को विवश होकर आसुरी व्यवहार करने पड़ते हैं । इसके नियमों को पालन करते हुए मनुष्य सात्विक आचरण कर ही नहीं सकता। अतएव सात्विक आचरण की इच्छा रखने वाले पुरुषों को अपने समान गुणों तथा समान विचार वाले व्यक्तियों के समाज का स्वतन्त्र सङ्गठन करना चाहिए।

चौथी श्रेणी (मनुष्यवर्ग) के मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के सात्विक आचरण

जिन लोगों का आत्म-विकास इतना विस्तृत हो गया है कि वे अपने देश की सेवा करना अपना कर्तव्य समझते हैं और देशोन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं, उनको जाति, वर्ण, धर्म या मत आदि के भेद-भाव बिना सारे देशवासियों के साथ अपनी एकता का ज्ञान रखते हुए सब से प्रेमयुक्त व्यवहार करना चाहिए। अपने व्यक्तित्व को सारे देशवासियों के व्यक्तित्व में जोड़ देना और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को देश स्वार्थों के अन्तर्गत समझना चाहिए। निःस्वार्थ भाव से देश के कष्ट दूर करना तथा उसकी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक उन्नति करने एवं शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए। देश की हानि में अपनी, अपने कुटुम्ब तथा समाज की हानि और देश के लाभ में सब

का लाभ समझना चाहिए। किसी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि, मान, प्रतिष्ठा आदि के लिए देश-सेवा नहीं करनी चाहिए।

अपने देश की सेवा करते हुए दूसरे देशों के साथ भी प्रेम और मेल-जोल रखना चाहिए और अपने देशवासियों में दूसरे देशवासियों के साथ प्रेम के बर्त्ताव करने के भाव उत्पन्न करने चाहिए। अपने देश के धन-बल, जनबल, प्राचीनता, विद्या और कला-कौशल की उन्नति आदि, प्रतिक्षण परिवर्तनशील आधिभौतिक शक्तियों के मोह और घमण्ड में आसक्त होकर दूसरे देशवासियों को दबाना न चाहिए और न उनसे ईर्षा, द्वेष एवं घृणा के भाव ही रखना चाहिए; क्योंकि सभी देश एक ही परमात्मा की माया-शक्ति के अनेक नाम और रूप हैं; अतः जिस देश के निवासी अपनी आधिभौतिकता के घमण्ड में दूसरे देशवासियों से घृणा करते हैं या उन्हें दबाते और कष्ट देते हैं वे स्वयं तिरस्कृत होते, कष्ट पाते एवं दूसरों से दबते तथा पराधीन रहते हैं। क्योंकि दूसरों से ईर्षा, द्वेष, घृणा तिरस्कार करने की प्रतिक्रिया स्वयं अपने ऊपर होती है जिससे अपने देश ही में आपस में द्वैत भाव बढ़ कर एक दूसरे को दबाने, एक दूसरे की हानि करने एवं एक दूसरे के साथ घृणा, तिरस्कार एवं ईर्षा-द्वेष करने के भाव उत्पन्न हो जाते हैं जिससे उस देश का अधःपतन हो जाता है। परन्तु जिस देश के निवासी आपस में एकता का प्रेम रखते हुए, अपने देश को सुख-समृद्धिशाली एवं उन्नत बनाने के लिए प्रयत्नशील होने के साथ-साथ दूसरे देशवालों से मेल-जोल, मैत्री एवं प्रेम रखते हैं वह देश सदा उन्नत, सुख-समृद्धि-सम्पन्न, शक्तिशाली एवं स्वाधीन रहता है।

भारतवर्ष जब तक दूसरे देशवासियों से मैत्री और प्रेम का व्यवहार करता रहा, तब तक वह सुख-समृद्धि-सम्पन्न, शक्तिशाली, एवं उन्नत रहा; परन्तु जब से यहाँ के लोग अपनी प्राचीनता, धार्मिकता एवं पवित्रता आदि बड़प्पन के घमण्ड में दूसरे देश वालों को दबाने और उनसे ईर्षा-द्वेष-तथा घृणा करने लगे एवं दूसरे देशों में जाने से भी परहेज़ करने लगे,

तब से ही प्रतिक्रिया-स्वरूप यहाँ के निवासियों में फूट पड़ कर आपस में वही ईर्षा-द्वेष, घृणा और परहेज़ करने तथा एक दूसरे को दबाने के भाव उत्पन्न हो गए और गृह-कलह के कारण दूसरे देश वालों ने इनको दबा लिया, अतः दूसरों के अधीन होकर स्वयं घृणा और तिरस्कार के पात्र हो गए। अब तक भी इस देश के अधिकतर लोगों में दूसरे देशों के प्रति ईर्षा-द्वेष, घृणा और परहेज़ के भाव बने हुए हैं और जब तक दूसरों के प्रति ये भाव बने रहेंगे तब तक आपस में भी ये ही सर्वनाशी भाव बने रहेंगे। इसलिए दूसरे देशवासियों के साथ भी मैत्री और प्रेम के भाव रखने चाहिए।

पाँचवीं श्रेणी (देव वर्ग) के मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के सात्विक आचरण

इस श्रेणी के लोगों का आत्म-विकाश अत्यन्त उन्नत होता है और इनका कार्यक्षेत्र सारे जगत् तक विस्तृत हो जाता है अर्थात् ये लोग किसी प्रकार के जाति वर्ण, धर्म, एवं देश के भेद-भाव बिना प्राणी मात्र की सेवा करना अपना कर्तव्य समझते हैं; लोकहित के लिए अपने देश, समाज, कुटुम्ब और शरीर तक को त्याग देने को तैयार रहते हैं तथा दूसरों के कष्ट निवारण के लिए प्रसन्नतापूर्वक स्वयं कष्ट सहन कर लेते हैं। ये लोग मनुष्य-देह में साक्षात देवता हैं। जिस तरह परमात्मा की दैवी-शक्तियां सारी चराचर सृष्टि का समान भाव से सञ्चालन करती रहती हैं, उसी तरह इस वर्ग के लोग समान भाव से भूत प्राणियों की सेवा करते रहते हैं अपने, अपने कुटुम्ब, जाति और देश के स्वार्थों को विश्वरूपी परमात्मा के अर्पण कर देते हैं। परन्तु सर्वभूतात्मैक्य आत्म-ज्ञान के अभाव में जबतक इनमें यह द्वैत भाव बना रहता है कि "जगत मुझ से भिन्न है; मैं उसकी सेवा करता हूँ" और इस पृथकता के भाव से लोक-सेवा करते हुए यह अहङ्कार रहता है कि "मैं लोगों का उपकार

करता हूँ; लोगों पर दया करके उनके दुःख मिटाता हूँ यदि मैं ऐसा न करूँ तो लोग दुःख पावेंगे" अथवा हीनता का यह भाव रहता है कि मैं एक तुच्छ व्यक्ति हूँ, किसी के लिए कुछ कर नहीं सकता; इत्यादि" तब तक वे पूर्णावस्था को नहीं पहुँच सकते। किन्तु जबतक द्वैत भाव-जन्य पृथक् व्यक्तित्व का अहंकार बना रहता है तब तक कभी-न-कभी मोह के वश होकर पीछे गिरने की भी आशंका रहती है।

इसलिए इतने बढ़े हुए आत्म-विकास एवं सारे विश्व की सेवा करने वाले देव-वर्ग के स्त्री-पुरुषों को भी सब प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पाकर मुक्त होने के लिए सर्वभूतात्मैक्य ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता रहती है; अर्थात् उनको इस एकत्व भाव के अनुभवयुक्त जगत के व्यवहार करना चाहिए कि "स्वयं मैं और यह सारा विश्व एक ही परमात्मा के अनेक रूप हैं, अतः सबके साथ मेरी वास्तविक एकता है।"

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

गी० अ० १८-६५

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

—गी० अ० १८-६६

अर्थ—मुझमें मन रख कर मेरा भक्त हो, मेरा यजन कर, मेरी वन्दना कर, मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा कर कहता हूँ कि इससे तू मुझमें ही आकर मिलेगा, क्योंकि तू मेरा प्यारा भक्त है। भावार्थ यह है कि जो समष्टि-आत्मा = परमात्मा को सब में एक समानव्यापक समझ कर—यानी सारा विश्व आत्मामय है, यह निश्चय करके—अपने व्यक्तित्व को सब में जोड़ देता है; सबके साथ अनन्य भाव से प्रेम करता है; सबके हित के लिए यज्ञ* करता

* यज्ञ का खुलासा प्रथम प्रकरण में देखिए।

और सबकी सेवा करता है, वह—सबका प्यारा अर्थात् सबका आत्मा—निश्चय ही परमात्म स्वरूप हो जाता है; यानी वह अखिल विश्व का प्रेरक एवं नित्य मुक्त है।

सब धर्मों को छोड़कर तू एक मेरी (सर्वात्मा=परमात्मा की) शरण में आ, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर। इसका भावार्थ यह है कि द्वैतभावजन्य सब धार्मिक (मज़हबी) और साम्प्रदायिक एवं मत-मतान्तर सम्बन्धी भेद-भाव और विधि-निषेध, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, अच्छे-बुरे, रीति-रिवाज आदि में आसक्ति के बन्धन एवं ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, मान-अपमान, वर्ण-आश्रम आदि पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार को छोड़ कर एक (अद्वैत) समष्टि-आत्मा=परमात्मा में अपने आपको जोड़ देने से अर्थात् सारे विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव कर लेने से किसी भी कर्म का बन्धन शेष नहीं रहता और न किसी प्रकार की चिन्ता ही बाक़ी नहीं रहती है। जब तक पृथकता के ये भाव रहते हैं कि मैं अमुक धर्म, मज़हब, मत या सम्प्रदाय का अनुयायी हूँ; मेरा अमुक वर्ण, अमुक आश्रम, अमुक जाति व अमुक पद है; मैं अमीर हूँ, मैं ग़रीब हूँ, मैं कर्म करने वाला अलग हूँ, कर्म अलग है और जिससे तथा जिसके लिए कर्म करता हूँ वे अलग हैं एवं अमुक कर्म का मुझे अमुक फल मिलेगा इत्यादि; तभी तक धर्माधर्म, पाप-पुण्य आदि का बन्धन होता है; परन्तु जब सब में एक परमात्मा समान भाव से व्यापक जान कर सबके साथ एकता का विश्व-धर्म स्वीकार कर लिया जाता है अर्थात् अपने पृथक् व्यक्ति के भावों को सबसे एकता रूपी समष्टि भाव में लय कर दिया जाता है तो फिर बन्धन करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता। अतः सबके साथ एकता का अनुभव करने वाला वह महान् आत्मा संसार के सब व्यवहार करता हुआ भी सदा-सर्वदा मुक्त रहता है यानी स्वयं ईश्वर रूप हो जाता है।

इस तरह सर्वत्र साम्य भाव में स्थित एवं द्वैत बुद्धि से रहित होकर वे जीवनमुक्त कर्मयोगी सब भूत प्राणियों को अपने ही अङ्ग समझते

हुए—अर्थात् इस दृढ़ निश्चय से कि "सेवक, सेवा और सेव्य अथवा उपकारी, उपकार और उपकार्य तीनों एक ही हैं यानी मैं आप ही अपनी सेवा अथवा उपकार करता हूँ, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है"—वे सबके हित (लोक-संग्रह) के व्यवहार करते रहते हैं।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

—गी० अ० ६-२९

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

—गी० अ० ६-३०

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोपि स योगी मयि वर्तते॥

—गी० अ० ६-३१

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः॥

—गी० अ० ६-३२

अर्थ—सर्वत्र एक समान देखने वाला, योगयुक्त अर्थात् सबके साथ एकता के अनुभव युक्त व्यवहार करने वाला व्यक्ति, आपको सब भूतः प्राणियों में और सब भूतः प्राणियों को आप में देखता है।

जो मुझ (परमात्मा) को सब में और सबको मुझमें देखता है उससे मैं कभी अलग नहीं होता और न वही कभी मुझसे दूर होता है।

जो एकत्व भाव अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य बुद्धि से, सब प्राणियों में रहने वाले मुझ परमेश्वर को भजता है अर्थात् जो सबके साथ एकता के भाव में जुड़ कर जगत के व्यवहार करता है, वह कर्मयोगी सर्व प्रकार से वर्तता हुआ भी मुझमें ही रहता है।

हे अर्जुन ! जो सबके सुख और दुख को अपने समान देखता है अर्थात् अपने ही सुख-दुख मानता है, वह समत्व बुद्धि से व्यवहार करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ योगी माना जाता है।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥
—गी० अ० ५-२४

लभन्ते ब्रह्म निर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
—गी० अ० ५-२५

अर्थ— जो अन्तःसुखी अर्थात् नाम रूपात्मक जगत की अनेकता के अन्दर एकता यानी एकात्म भाव में सुख अनुभव करता है,जोअन्तरारामी अर्थात् *नाना प्रकार की आधिभौतिकता के अन्दर जो एक आध्यात्मिकता है*—उसमें रमता यानी एकात्म भाव से व्यवहार करता है और जो अन्तर्ज्योति अर्थात् आधिभौतिक जड़ता रूपी अन्धकार के अन्दर जिसको सर्वत्र एक आत्मतत्त्व का प्रकाश दीखता है—वह योगी ब्रह्मरूप हो जाता है एवं उसे ही ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है।

हे अर्जुन ! जिन ऋषियों के व्यक्तित्व के अहङ्कार-जन्य सब पाप क्षय हो गए हैं और जिनका द्वैत भाव मिट गया है एवं जो सबके साथ अपना एकता के अनुभव से निरन्तर सब भूत प्राणियों के हित में लगे रहते हैं—उनको ब्रह्म-निर्वाण अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है।

प्रत्येक देश में पूर्वोक्त पाँच श्रेणियों में से नीचे की श्रेणियों के स्त्री-पुरुषों की संख्या क्रमशः अधिक और ऊपर की श्रेणियों की संख्या क्रमशः कम होती है और सब से ऊँची श्रेणी देव-वर्ग के मनुष्य तो विरले ही होते हैं। जिस देश में ऊपर की श्रेणियों के मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) की संख्या दूसरे देशों के मुक़ाबले में जितनी अधिक होती है और उनके आ-

चरण जितने ही अधिक सात्विक होते हैं उतना ही वह दूसरे देशों की अपेक्षा अधिक उन्नत और स्वतन्त्र होता है और जहाँ सब से ऊँचे अर्थात् देव-वर्ग के मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) का निवास (अल्प संख्या में भी) हो वह देश बहुत ही उन्नत हो जाता है। उपरोक्त सर्वभूतात्मैक्य ज्ञानयुक्त साम्य भाव से लोक-संग्रह के लिए सांसारिक व्यवहार करने वाला देव-वर्ग का महापुरुष यदि एक भी किसी देश में अवतीर्ण हो जाय तो उसके प्रभाव से उस देश में नीची श्रेणियों के लोगों के आचरण भी प्रायः सात्विक बन जाते हैं और वह देश शीघ्र ही उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है।

तृतीय प्रकरण

तृतीय प्रकरण

—※—

सात्विक और राजस-तामस व्यवहारों का खुलासा

पूर्व प्रकरण में मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) को पाँच श्रेणियों में विभक्त करके उन सबके लिए यथायोग्य सात्विक आचरणों की आवश्यकता बतलाई गई है; क्योंकि सात्विक आचरणों से ही सब प्रकार की स्वाधीनता या मुक्ति प्राप्त होती है—इसके विपरीत राजस-तामस आचरणों से बन्धन होता है। परन्तु सात्विक और राजस-तामस भाव आपस में इतने उलझे हुए हैं कि उनका भेद—यथावत् जान कर, व्यवहार में एक का ग्रहण और दूसरे का त्याग करना अत्यन्त कठिन विषय है इसलिए इसका विशेष रूप से खुलासा करना अत्यावश्यक है।

यद्यपि साधारणतया सात्विक व्यवहार ग्राह्य और राजस-तामस त्याज्य हैं, परन्तु यह संसार, सबकी आत्मा = परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्य होने से, उसके व्यवहारों में तीनों गुणों का तारतम्य बना रहना अनिवार्य है; अतः जगत के रहते किसी एक का भी सर्वथा त्याग हो नहीं सकता।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥

—गी० अ० १८-४०

अर्थ—इस पृथ्वी पर, आकाश में अथवा (सूक्ष्म) देवलोक में भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त हो।

तमोगुण स्थूल जड़ात्मक है अतः इसके बिना स्थूल जगत् का अस्तित्व ही नहीं रहता। इसी तरह रजोगुण रागात्मक एवं क्रियात्मक होने से जगत की सारी हलचल—अर्थात् सब व्यवहारों—का कारण है और यही तम एवं सत्त्व के बीच में रह कर सब प्रकार की चेष्टाएँ करवाता है। यह योगवाही है; अतः सतोगुण की प्रबलता में इसके द्वारा सात्त्विक व्यवहार होते हैं और तमोगुण की प्रबलता में इसी के द्वारा तामस व्यवहार होते हैं; अर्थात् जिस गुण के साथ जुड़ता है उसी के अनुरूप क्रिया करता है। क्रिया सब प्रकार की इसी पर निर्भर है; इसलिए यह किसी से भी त्यागा नहीं जा सकता। सतोगुण में इसको जोड़ना प्रयत्न-साध्य है, परन्तु तमोगुण में जोड़ने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। ऊपर उठने में प्रयत्न करना पड़ता है, नीचे गिरने में प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती। अतः यदि सतोगुण के साथ इसको जोड़ने का प्रयत्न न किया जाय तो तमोगुण के साथ तो वह स्वतः ही जुड़ा हुआ रहता है, जिससे सब प्रकार के बन्धन होते हैं। सारांश यह कि यद्यपि सतोगुण की वृद्धि करके सात्त्विक आचरण करने का प्रयत्न करना आवश्यक है, परन्तु रजोगुण तमोगुण के सहयोग बिना सात्त्विक व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकते। जिस तरह शरीर में कठोर अङ्ग दाँत, नख, केशादि के बिना ज्ञानेन्द्रियाँ आदि कोमल अङ्गों के काम नहीं चल सकते, किन्तु उनके सहयोग की आवश्यकता रहती है, उसी तरह सात्त्विक व्यवहार यथावत् पालन करने के लिए राजस-तामस की भी अत्यन्त आवश्यकता रहती है।

जगत में प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे का उपकारी-उपकारक अर्थात् अन्योन्याश्रित (एक दूसरे पर निर्भर रहने वाला) है। एक के बिना दूसरे का काम नहीं चलता।

गायन

(राग जौनपुरी-टोड़ी ताल कव्वाली)

सभी पदार्थ हैं इस जग में; एक एक के उपकारी ॥ टेर ॥
नभ वायु अग्नि पृथ्वी जल रवि-शशि तारा बिजली बादल
नदी पहाड़ बन वृक्ष लता फल पशु पक्षी और नर नारी ॥ सभी पदार्थ हैं ॥१॥
देव असुर भूपति धन हीना शूरवीर कायर अति दीना
पण्डित मूर्ख वृद्ध नवीना सज्जन और दुराचारी ॥ सभी पदार्थ हैं० ॥ २ ॥
सुख सम्पत्ति विपद् दुख नाना हानि लाभ जीना मर जाना
हर्ष शोक रोना और गाना अमृत जहर मधुर खारी ॥ सभी पदार्थ हैं० ॥३॥
भले बुरे मोटे छोटे सब आपस में सहायक होते जब
अपने करतव कर सकते तब सन्यासी और घर बारी ॥ सभी पदार्थ हैं० ॥४॥
ऊँचे नीचे हलके भारी अन्योन्याश्रित सृष्टि सारी
सभी परस्पर हैं हितकारी आवश्यकता न्यारी न्यारी ॥ सभी पदार्थ हैं० ॥५॥
तिरस्कार करना न किसी का एक आत्मा है सब ही का
उपकारक और आभारी का भेद-बुद्धि तजिए सारी ॥ सभी पदार्थ हैं ॥६॥
जड़ चेतन जो कुछ है सोई, सब "गोपाल" और नहीं कोई ॥
सच्चिदानन्द एक नहीं दोई नाना नाम रूपधारी ॥ सभी पदार्थ हैं ॥७॥

(बृहदारण्यक उपनिषद् दूसरे अध्याय के पाँचवे ब्राह्मण के मधुविद्या के आधार पर) ।

अस्तु । राजस-तामस व्यवहार त्याज्य और सात्विक ग्राह्य कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, शोक, भय, मोह, आलस्य, निद्रादि राजस-तामस भाव सर्वथा त्यागे नहीं जा सकते, तथापि उनके वश में न होना चाहिए, किन्तु उनको अपने वश में करके—सदुपयोग द्वारा—उनका राजसी-तामसीपन मिटा देना चाहिए ताकि उनसे पराधीनता के बन्धन उत्पन्न न हों; यानी उनको अपने अधीन रख कर

लोकहित के लिए—आवश्यकतानुसार—स्वाधीनतापूर्वक व्यवहार में लाना चाहिए; किसी के भी अहित के लिए नहीं। जिस तरह सदुपयोग करने से विष भी अमृत का काम देता है यानी अनेक रोगों को मिटाता है और दुरुपयोग से अमृत भी विष में परिणत होकर अनेक रोग उत्पन्न कर देता है, उसी तरह सदुपयोग से राजस-तामस प्रतीत होनेवाले व्यवहार भी सात्विक अर्थात् लोक-हितकर हो जाते हैं और दुरुपयोग से सात्विक व्यवहार भी राजस-तामस होकर दुःख और बन्धन के हेतु बन जाते हैं। संसार में सदा सर्वदा एकरस रहने वाला कोई भी पदार्थ नहीं है। परमात्मा की त्रिगुणात्मक माया के इस खेल में किसी भी व्यवहार में स्वयं अपना अच्छापन या बुरापन नहीं है; अच्छा-बुरापन कर्त्ता की बुद्धि और उपयोग में है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥

गी० अ० २-४९

अर्थ—हे धनञ्जय! बुद्धियोग की अपेक्षा कर्म (बहुत ही) निकृष्ट हैं अर्थात् बुद्धि के उपयोग बिना कोरे कर्म से कुछ भी नहीं हो सकता-इसलिए तू बुद्धि की शरण में जा अर्थात् बुद्धि से काम ले। (बुद्धि से काम न लेकर) केवल (स्थूल शरीर के लिए) फल की इच्छा से कर्म करने वाले लोग कृपण अर्थात् दीन-दुखिया होते हैं।

अतएव सात्विक और राजस-तामस व्यवहारों का बुद्धि द्वारा सदुपयोग करना चाहिए। बुद्धि से काम न लेकर, अर्थात् सूक्ष्म विचार के बिना केवल शास्त्रों के रोचक, भयानक वचनों में ही अन्धश्रद्धा रख कर—अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए व्यवहार करने से कई अवसरों पर साधारणतया सात्विक प्रतीत होने वाले व्यवहारों से अनर्थ हो जाता है और कई अवसरों पर साधारणतया राजस-तामस प्रतीत होने वाले व्यवहार न करने से अनर्थ हो जाता है।

परन्तु यह बुद्धि सात्विक-ज्ञानयुक्त अर्थात् आत्मनिष्ठ होनी चाहिए।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
—गी० अ० १८-२०

अर्थ—जिससे विभक्त अर्थात् भिन्न-भिन्न सब भूत प्राणियों में एक ही अविभक्त अर्थात् विना बटा हुआ और अव्यय अर्थात् सदा एकरस रहने वाला भाव दीखता है अर्थात् सर्वत्र एक आत्मतत्व ही दीखता है-वह सात्विकज्ञान है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥
—गी० अ० २-४१

अर्थ—व्यवसायात्मिक अर्थात् निश्चयात्मिक बुद्धि एक ही है। जिनका एक निश्चय नहीं उनकी बुद्धि में अनन्त वासनाएँ उत्पन्न होकर, बुद्धि की शाखाएँ अनन्त प्रकार की हो जाती हैं अर्थात् एक आत्मनिष्ठ बुद्धि ही निश्चयात्मक है जिससे यथार्थ निर्णय हो सकता है। जिनकी आत्मनिष्ठ बुद्धि नहीं वे यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
—गी० अ० १८-३०

अर्थ—प्रवृत्ति (कर्म्म करने), निवृत्ति (कर्म्म न करने), कार्य (कौन सा काम करने योग्य है), अकार्य (कौनसा कार्य न करने योग्य है) भय (किससे डरना), अभय (किससे न डरना) बन्धन क्या है और मोक्ष क्या है, इनबातों को जो बुद्धि यथार्थ रूप से निश्चय करके जानती है, वह बुद्धि सात्विक है।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि साधारणतया सात्त्विक व्यवहार अच्छे और, राजस-तामस बुरे कहे जाते हैं, परन्तु आत्म-निष्ठ बुद्धि विना किस अवसर

पर, किस परिस्थिति में, किस व्यक्ति के लिए कौनसा व्यवहार सात्विक और कौन सा राजस-तामस होता है, इस बात का यथार्थ निर्णय करने में बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ पंडित भी भ्रम में पड़ जाते हैं। किसी विशेष अवसर पर अथवा किसी विशेष परिस्थिति में अथवा किसी विशेष व्यक्ति के लिए जो व्यवहार सात्विक होता है वही दूसरे अवसर पर अथवा दूसरी परिस्थिति में अथवा किसी दूसरे व्यक्ति के लिए राजस-तामस हो जाता है। इसी तरह किसी विशेष अवसर पर, किसी विशेष परिस्थिति में, किसी विशेष व्यक्ति के लिए जो व्यवहार राजस-तामस होता है वही दूसरे अवसर पर दूसरी परिस्थिति में दूसरे व्यक्ति के लिए सात्विक हो जाता है। ऐसा भी होता है कि साधारणतया आदि भौतिक (स्थूल) दृष्टि से जो व्यवहार सात्विक प्रतीत होता है वही आध्यात्मिक (सूक्ष्म) तात्विक दृष्टि से जाँच करने पर राजस-तामस सिद्ध हो जाता है। इसी तरह साधारण स्थूल दृष्टि में राजस-तामस प्रतीत होने वाला व्यवहार सूक्ष्म तात्विक दृष्टि से जांच करने पर सात्विक साबित हो जाता है। इसलिए जो कर्म आध्यात्मिक दृष्टि से अर्थात् सर्वत्र एक परमात्मा को ओत-प्रोत व्यापक समझने के सात्विक ज्ञानयुक्त, उपरोक्त आत्मनिष्ठ बुद्धि से किया जाता है, वह चाहे साधारण लोगों की दृष्टि में बुरा ही क्यों न प्रतीत हो, वास्तव में बुरा नहीं होता किन्तु श्रेष्ठ ही होता है। और जो कर्म इसके विपरीत अनैक्य यानी पृथकता के द्वैत भाव से, पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार युक्त तथा पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए विषम बुद्धि से किया जाता है वह चाहें साधारण लोगों की दृष्टि में कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो वास्तव में बहुत बुरा और दुःख का हेतु होता है। कर्मों के अच्छे-बुरेपन की यथार्थ जाँच केवल सूक्ष्म-आध्यात्मिक दृष्टि की कसौटी ही से होती है; स्थूल आधिभौतिक दृष्टि से कदापि नहीं। स्थूल = मोटे विचारों से सूक्ष्म = महीन विचार अधिक सच्चे और मान्य होते हैं। स्थूल बुद्धि के व्यक्ति धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक आदि

सभी विषयों में सूक्ष्म बुद्धि के व्यक्तियों की आज्ञा में रह कर उनके अनुयायी होते हैं; यह प्रत्यक्ष ही है। जितना ही अधिक सूक्ष्मता से विचार किया जाता है उतना ही अधिक सत्य के नज़दीक पहुँचा जाता है स्थूल पदार्थों से सूक्ष्म पदार्थ अधिक मूल्यवान और ग्राह्य होते हैं। प्रत्येक स्थूल पदार्थ का सूक्ष्म सार ही उसका सत्व अथवा तत्व होता है और तत्वों का सूक्ष्म विचार ही तत्त्वज्ञान कहलाता है। जितना ही अधिक सूक्ष्मता में बढ़ा जाता है उतना ही अधिक अनैक्य की एकता होती जाती है और बढ़ते बढ़ते जब अन्त में सब अनैक्य मिट कर केवल एक तत्त्व ही रह जाता है वही आत्मा = परमात्मा है। अतएव जहाँ तक बुद्धि काम करे सूक्ष्मता में बढ़ते जाना चाहिए, जब तक कि पराकाष्ठा (हद दर्जे) की सूक्ष्मता अर्थात् सूक्ष्म से भी सूक्ष्म आत्मा = परमात्मा की एकता के अनुभव तक न पहुँचा जाय। आत्मा-परमात्मा सूक्ष्म का भी सूक्ष्म और सत्य का भी सत्य है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

—गी० अ० ८-२०

अर्थ—परन्तु जो प्रकृति (माया) से भी परे; अव्यक्त (सूक्ष्म) से भी अव्यक्त (सूक्ष्म) और सनातन (सदा इकसार रहने वाला) भाव अथवा तत्त्व है उसका सब भूत प्राणियों के नाश (लय) होने पर भी नाश नहीं होता और वही अन्तिम गति है।

अतः स्थूलता का उल्लंघन करके बुद्धि को सूक्ष्म तात्विक विचारों में बढ़ाते-बढ़ाते ही अन्त में वह आत्मनिष्ठ होती है और उस आत्मनिष्ठ बुद्धि से यथार्थ निर्णय होकर, सब के साथ एकता के अनुभवयुक्त व्यवहार ही पूर्ण रूप से सात्विक हो सकते हैं। स्थूल आधिभौतिकता में ही लीन रहने से ऐसा होना कदापि सम्भव नहीं। परन्तु बहुत ही थोड़े लोग सूक्ष्म

विचार करने का प्रयत्न करते हैं और उनमें भी कोई विरला ही दीर्घकाल के अभ्यास के बाद असली तत्त्व (सर्वभूतात्मैक्य भाव) की पूर्णावस्था तक पहुँचने में सफलता प्राप्त करता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

—गी० अ० ७-३

अर्थ—हज़ारों मनुष्यों में से कोई विरला ही सिद्धि पाने अर्थात् आत्म-ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करता है और उन यत्न करने वालों में से कोई विरला ही मुझ (समष्टि-आत्मा = परमात्मा) को यथार्थ जान सकता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

—गी० अ० ७-१९

अर्थ—बहुत जन्मों के अभ्यास के बाद, सूक्ष्म विचारों वाला ज्ञानवान व्यक्ति, यह जान लेने से—कि जो कुछ है सर्व वासुदेव परमात्मा ही है—मुझे प्राप्त हो जाता है अर्थात सब के साथ एकता का अनुभव कर लेता है। ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है।

ऐसे महान् व्यक्ति ही कर्मों के विषय में यथार्थ निर्णय करके संसार का व्यवहार यथायोग्य चलाने में समर्थ होते हैं और उन्हीं महान् व्यक्तियों के नेतृत्व में जन-साधारण उनके अनुयायी होकर अपने-अपने कर्त्तव्य कर्म यथायोग्य पालन कर सकते हैं; क्योंकि अधिकतर जन-समाज की तमो-गुण प्रधान प्रकृति होने के कारण उनकी स्थूल कर्मों ही में आसक्ति रहती है; सूक्ष्म विचारों में प्रवेश करने की तथा सूक्ष्म तत्त्वों के समझने की उनमें योग्यता बहुत ही कम रहती है। इसलिए तत्त्वदर्शी महात्मा उन लोगों को, यथायोग्य स्थूल रीति से ही उनके कर्त्तव्य समझाने और उनसे श्रेष्ठ आचारण करवाने तथा बुरे व्यवहार छुड़वाने के लिए साधारणतया

सात्विक तथा राजस-तामस व्यवहारों के स्थायी भेद करके उनके आधार पर देश, काल और पात्र की परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर विधि-निषेध की मर्यादाएँ बाँध दिया करते हैं। वे विधि-निषेध की मर्यादाएँ ही साधारण लोगों का धर्म हो जाता है और साधारणतया उनके अनुसार आचरण करके वे लोग अपनी उन्नति करते हैं। यदि तत्त्वदर्शी महात्मा लोग स्थूल बुद्धि के लोगों के लिए समय-समय पर यथोचित मर्यादाएँ न बाँध कर—उन्हें केवल तत्वज्ञान का उपदेश देकर ही—व्यवहार करने में सर्वथा स्वतन्त्र कर दें तो—तात्विक मर्म को समझने की योग्यता न होने के कारण—वे तामसी बुद्धि के लोग अर्थ का अनर्थ करके विपरीत आचरणों द्वारा संसार का व्यवहार सर्वथा बिगाड़ दें।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसा वृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
—गी० अ० १८·३२

अर्थ—तमोगुण से आच्छादित जो (बुद्धि) अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म मानती है और सब पदार्थों को विपरीत समझती है वह तामसी बुद्धि है।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥
—गी० अ० ३·२९

अर्थ—हे अर्जुन! प्रकृति के गुणों के वश में हुए मूढ़ (अज्ञानी) लोग गुण और कर्मों में ही आसक्त रहते हैं; उन स्थूल बुद्धि के अज्ञानीजनों को तत्त्वदर्शी महात्मा (मर्यादा के अनुसार कर्म करने से) विचलित न करे।

परन्तु जैसे कि पहले कहा जा चुका है, वास्तव में व्यवहारों का सात्विक और राजस-तामस भेद सदा सर्वदा इकसार नहीं रहता; फलतः उनके आधार पर बँधी हुई विधि-निषेध की मर्यादाएँ भी सदा सर्वदा स्थायी

रूप से हितकारक एवं सुखप्रद नहीं रह सकतीं। इसलिए तत्त्वदर्शी महात्मा लोग, साधारण लोगों को सात्विक तथा राजस-तामस प्रतीत होने वाले व्यवहारों तथा उनके आधार पर बँधी हुई विधि-निषेध की मर्यादाओं पर ही सदा सर्वदा कट्टरता से पाबन्दी नहीं रखते, किन्तु अपनी आत्मनिष्ट सात्विक बुद्धिद्वारा अर्थात् अध्यात्म विचारों से, देश काल और पात्र की परिस्थिति के अनुसार, आवश्यकता होने पर उनमें परिवर्तन करके, अथवा नवीन मर्यादाएँ बाँध कर संसार के व्यवहार किया करते हैं, ऐसा करने से लौकिक दृष्टि से चाहे वे व्यवहार अच्छे प्रतीत हों या बुरे, अथवा प्रचलित मर्यादाएँ रहें या टूटें, इसकी वे कुछ भी परवा नहीं करते ऐसे अवसरों पर उन महापुरुषों के आचरण ही धर्म या मर्यादा बन जाते हैं क्योंकि साधारण जनता बड़े लोगों के पीछे चला करती है। तात्पर्य यह कि आत्मज्ञानी (जीवनमुक्त) महान् पुरुष ही अपने सर्वभूतात्मैक्य ज्ञान से पूर्णतया सात्विक व्यवहार कर सकते हैं तथा साधारण लोगों को यथायोग्य सात्विक आचरण करने में प्रवृत्त कर सकते हैं, और साधारण लोग अपनी-अपनी योग्यतानुसार—उन आत्म-ज्ञानी महात्माओं द्वारा निर्णीत—सात्विक व्यवहारों के आधार पर बँधी हुई विधि-निषेध की मर्यादाओं का श्रद्धापूर्वक पालन करके तथा उन महान् पुरुषों का अनुकरण करके दीर्घ काल के अभ्यास के बाद सर्वभूता-त्मैक्य ज्ञान अर्थात् सब प्रकार के बन्धनों से मुक्ति पा सकते हैं। सारांश यह कि एक तरफ़ तो आत्मज्ञान से सात्विक आचरण होते हैं और दूसरी तरफ़ सात्विक आचरणों से आत्मज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् दूसरे पदार्थों की तरह आत्मज्ञान एवं सात्विक आचरण भी परस्पर में एक दूसरे के कार्य कारण अथवा उपकारी उपकार्य आर्थात् अनन्योश्रित हैं। इसलिए जनता का नेतृत्व करने वाले बड़े लोगों का कर्तव्य है कि सूक्ष्म विचारों को बढ़ाते-बढ़ाते आत्मज्ञान प्राप्त करके आत्मनिष्ठ साम्य बुद्धि द्वारा संसार के व्यव-हार करते हुए साधारण लोगों को आदर्श दिखावें।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

—गी० अ० ३·२१

अर्थ—श्रेष्ठ अर्थात् महान् व्यक्ति जो कुछ करता है वही अन्य साधारण लोग भी करते हैं; वह जिसे प्रमाण मान कर स्वीकार करता है लोग उसी का अनुकरण करते हैं।

अतः जिस समाज, राष्ट्र व देश के नेता लोग अपनी इस ज़िम्मेदारी को अच्छी तरह पूरी करते हैं वह समाज, राष्ट्र व देश उन्नति करता है और जिस समाज, राष्ट्र व देश के नेता लोग अपनी—इस सबसे अधिक महत्वपूर्ण ज़िम्मेदारी को भूल कर—स्थूलता में ही लीन रहते हैं अर्थात् केवल स्थूल शरीरों के व्यक्तिगत स्वार्थ को ही सब कुछ मानते हैं, उस समाज, राष्ट्र व देश का पतन अवश्य होता है। जिस समाज, राष्ट्र व देश के नेता लोग जितने ही अधिक सूक्ष्म विचार वाले होते हैं, उतना ही अधिक वह समाज, राष्ट्र व देश उन्नति करता है और जिस समाज, राष्ट्र व देश के नेता लोग जितने ही स्थूल विचार वाले होते हैं, उतना ही अधिक उस समाज, राष्ट्र व देश का पतन होता है।

अब पृथक-पृथक भावों का किस अवस्था में, किस तरह प्रयोग करने से व्यवहार सात्विक अथवा राजस-तामस होते हैं—इसका कुछ खुलासा (स्पष्टीकरण) संक्षेप में करने का यथाशक्य प्रयत्न किया जाता है। यह स्पष्टीकरण "सब भूत प्राणियों की एकता सची है"—इस निश्चययुक्त, व्यवसायात्मिका बुद्धि से किए जाने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवहार सच्चे यानी सात्विक और "अनन्त प्रकार की झूठी पृथकता को सच्ची" जानने वाली भेद-बुद्धि से किए जाने वाले व्यवहार मिथ्या, यानी राजस-तामस मानने के मूल सिद्धान्त पर किया गया है।

साधारणतया सात्विक प्रतीत होने वाले व्यवहारों का खुलासा (स्पष्टीकरण)

प्रेम

समस्त भूत प्राणी एक सत्-चित्-आनन्द स्वरूप आत्मा के ही अनेक नाम और रूप हैं, वस्तुतः एक आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस सर्वभूतात्मैक्य भाव से सबके साथ स्वाभाविक प्रेम करना; दूसरों के सुख-दुख अपने समान समझना; अपनी तरफ़ से किसी से भी द्वेष का भाव नहीं रखना; सभी सुखी हों, सभी सन्मार्ग पर चलें, सभी उन्नति करें, सबके प्रति इस तरह की सद्भावना रखना—यह सच्चा अर्थात् सात्विक प्रेम है। परन्तु विशेष व्यक्तियों एवं उनके भौतिक शरीरों के प्रेम में आसक्त होकर, उनके साथ यथायोग्य व्यवहार न करना अथवा अपने कर्त्तव्यों में त्रुटि करना अथवा उनसे यथायोग्य काम न लेना अर्थात्—इस विचार से कि उनका उपयोग करने से उनको शारीरिक परिश्रम या कष्ट होगा—उनसे अपने-अपने कर्त्तव्य-पालन करवाने की अपेक्षा करना अथवा किसी के परोक्ष के अधिक सुख प्राप्ति के निमित्त, प्रत्यक्ष में होने वाले थोड़े से शारीरिक दुख को भी, भौतिक प्रेम के वश होकर, सहन न करना यह मिथ्या प्रेम है। भौतिक शरीरों तथा विशेष व्यक्तियों में प्रेम की आसक्ति, मोह में परिणत होकर कईयों के प्रति राग और कईयों से द्वेष उत्पन्न कर देती है जिससे बड़ी दुर्गति होती है। अर्जुन को भी भौतिक शरीरों तथा विशेष व्यक्तियों में प्रेम की आसक्ति होकर मोह उत्पन्न हो गया था, जिससे उसकी बड़ी बुरी दशा हो गई थी और जिसको मिटाने के लिए ही भगवान ने उसे श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश दिया।

आत्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति के, जगत रूपी, इस खेल में नाना प्रकार के भूतप्राणी होते हैं और उनका परस्पर में नाना प्रकार का सम्बन्ध होता है; अतः उनमें आपस में प्रेम का बर्ताव भी अपनी-अपनी योग्यता

और परस्पर के सम्बन्ध के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है, अर्थात् बड़ों के साथ छोटों का प्रेम का बर्ताव भक्ति के रूप में; छोटों के साथ बड़ों का प्रेम का बर्ताव वात्सल्य के रूप में; बराबरी वालों से स्नेह के रूप में; अपने से हीन स्थिति वालों से अनुग्रह के रूप में; दुखियों के साथ दया, सुखियों से मित्रता, सज्जनों से मुदिता और दुराचारियों से उपेक्षा के रूप में—प्रेम का बर्त्ताव होता है। इन सबका पृथक्-पृथक् स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है।

ईश्वर-भक्ति।

सारे विश्व का समष्टि भाव अर्थात् सब भूत प्राणियों का एकत्व ही ईश्वर है यानि एक ईश्वर समस्त चराचर भूत प्राणियों में एक समान व्यापक है—उससे पृथक् कुछ भी नहीं है—इस निश्चय से, जगत् को ही जगदीश्वर समझ कर, सब चराचर भूत प्राणियों के साथ यथायोग्य प्रेम का बर्ताव करना; अपने व्यक्तित्व को जगत् रूपी जगदीश्वर के साथ जोड़ कर तथा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को जगत् रूपी जगदीश्वर के अर्पण करके संसार के व्यवहार करना; कोई कार्य करने में सब के आत्मा ईश्वर की सर्वव्यापकता को नहीं भूलना; किसी के साथ भी विपरीत बर्ताव न करना; अपनी तरफ से किसी के साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा या तिरस्कार का बर्ताव न करना और किसी को किसी प्रकार की हानि न करना; अपनी शक्ति और योग्यतानुसार लोक-सेवा करना—यह सच्ची ईश्वर-भक्ति है; अर्थात् विश्व-प्रेम ही सच्ची ईश्वर-भक्ति है। श्रीमद्भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में भगवान ने अपने विराट रूप में अर्जुन को सब चराचर सृष्टि दिखा कर कहा कि "भेद बुद्धि से वेदाध्ययन, तप, दान और हवन-यज्ञ आदि करने से—जगत् के एकत्व भाव—मेरे इस विश्व रूप को कोई नहीं देख सकता, किन्तु अनन्य भक्ति अर्थात् सब के साथ एकत्व भाव के प्रेम से ही मैं (अपने इस रूप में) देखा एवं जाना जा सकता हूँ और इसीसे मेरे

साथ एकता हो सकती है ! अतः जो सब के लिए कम करते हैं; सब से एकता रखते हैं; अपने व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थों को जो सब के साथ जोड़ देते हैं और किसी भी भूत प्राणी से वैर नहीं करते, वे सब से प्रेम करने वाले मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।" इस पर अर्जुन ने शंका की कि "इस विश्व-प्रेम रूपी आपकी सगुण उपासना करने वाले तथा जगत् का तिरस्कार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने वाले— भक्तों में से श्रेष्ठ योगी कौन है ? इसके उत्तर में भगवान ने कहा:—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्तमा मताः ॥

—गी० अ० १२-२

अर्थ—जो पराश्रद्धा अर्थात् सब में एकत्व भाव की सात्विक श्रद्धा से (जगत् को जगदीश्वर जान कर) मेरे इस सगुण स्वरूप यानी विश्व की एकता में, अपने मन को निरन्तर जोड़ कर, मेरी उपासना करते हैं, उन भक्तों को मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूँ।

सारांश यह कि विश्व के साथ एकता का प्रेमयुक्त व्यवहार ही सच्ची ईश्वर-भक्ति है। और मन को इस प्रकार की एकता में जोड़ने अर्थात् एकाग्र करने के अभ्यास के लिए—किसी स्थान विशेष में स्थिर होकर अथवा किसी मूर्तिचित्र अथवा दूसरे किसी चिन्ह या नाम विशेष में ईश्वर-बुद्धि करके निःस्वार्थ भाव से पूजन, अर्चन, स्मरण, कीर्तन, मन्त्र, स्तुति आदि से—निराकार अथवा साकार ईश्वर के गुणों का चिन्तन करते रहना तथा सभी स्थानों, मूर्तियों, चित्रों, चिन्हों और नामों में एक ही ईश्वर की सर्वव्यापकता का लक्ष्य रखना—यह भी साधनावस्था की अर्थात् प्रारम्भिक ईश्वर-भक्ति है। यह प्रथमावस्था की ईश्वर-भक्ति उपरोक्त सच्ची ईश्वर-भक्ति का साधन मात्र है। जिस तरह विद्यार्थी विद्या प्राप्त करने के लिए, प्रथम वर्ग शिक्षा से आरम्भ करके—उसके साधन से—आगे उच्च शिक्षा प्राप्त करता

है, परन्तु जब वह ऊपर की कक्षा में पहुँच जाता है तो वर्ण शिक्षा का अभ्यास पीछे छोड़ देता है; अथवा जिस तरह छोटी आयु की कन्याएँ, गुड़ियों के खेल द्वारा गृहस्थ की शिक्षा प्राप्त करती हैं, परन्तु जब वे बड़ी होकर गृहस्थिन बनती हैं तब गुड़ियों का खेल छोड़ देती हैं; उसी तरह, यद्यपि विश्व-प्रेम-रूपी ईश्वर-भक्ति में मन को जोड़ने की शिक्षा के लिए प्रतीक-उपासना—किसी स्थान विशेष में अथवा किसी मूर्ति, चित्र तथा अन्य चिन्ह अथवा किसी नाम विशेष पर लक्ष्य कर—करना आवश्यक है, परन्तु इस प्रतीक उपासना का उद्देश्य केवल प्रारम्भिक अवस्था में मन को एकाग्र करने के अभ्यास तक ही परिमित रहना चाहिए; न कि जन्म भर इसी में लगे रहने के लिए यदि इसी को सच्ची अर्थात् पराकाष्ठा की ईश्वर-भक्ति मान कर सारी आयु इसी में बिता दी जाय तो—वह मिथ्या ईश्वर-भक्ति है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नाना भावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥

—गी० अ० १८-२१

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥

—गी० अ० १८-२२

अर्थ—जिस पृथकता के ज्ञान से सम्पूर्ण भूत प्राणियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नानात्व को (लोग) सत्य मानते हैं—उस ज्ञान को तू राजस जान।

और जिस ज्ञान से किसी एक ही कार्य को सब कुछ मान कर (लोग) उस में आसक्त रहते हैं तथा जो युक्ति अथवा तात्विक विचार से सर्वथा रहित हैं—वह तुच्छ ज्ञान तामस कहा गया है।

तात्पर्य्य यह कि ईश्वर को किसी स्थान, मूर्ति, चित्र, चिन्ह अथवा किसी नाम व गुण विशेष ही में सीमाबद्ध मान कर तथा इन्हीं की उपासना को ईश्वर-भक्ति की परमावधि समझ कर, जन्म भर उसी में लगे रहना

और इनके अतिरिक्त दूसरे भूत प्राणियों में ईश्वर की सर्वव्यापकता की उपेक्षा करके अथवा उनको ईश्वर से भिन्न मान कर, उनसे ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि के व्यवहार करते रहना; इस तरह की उपासना में निरन्तर लगे रह कर अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना करना; लोगों के साथ विपरीत व्यवहार करना; किसी को कष्ट देना; किसी की हानि करना; अपने व्यक्तिगत भोग-विलास की कामना से अथवा लोगों में कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करने के लिए दम्भ से पूजा-पाठ आदि में लगे रह कर ईश्वर-भक्त होने का अहङ्कार करना; अथवा नाना ईश्वर मान कर उनमें भेद-भाव की कल्पना करके झगड़े खड़े करते रहना अथवा किसी स्थान विशेष या काल विशेष में रहने वाले किसी विशेष शक्ति सम्पन्न एवं विशेष गुणों वाले व्यक्तित्व में ईश्वर की कल्पना करके, अपने बुरे कर्मों के दुष्परिणामों एवं विपत्तियों से बचने तथा किसी प्रकार की अर्थ-सिद्धि के लिए, उसकी खुशामद (प्रार्थना स्तुति आदि) करना और अपनी शरीर-यात्रा का सब बोझ उसके सिर लाद कर आप निरुद्यमी, आलसी एवं प्रमादी बन जाना—यह ईश्वर-भक्ति नहीं किन्तु ईश्वर का तिरस्कार अर्थात् नास्तिकता है।

राज्य-भक्ति

नराणां च नराधिपम्।

—गी० अ० १०-२७

अर्थ—मनुष्यों में राजा मैं हूँ। अर्थात् राजा या राज्यसत्ता, बहु-संख्यक लोगों की एकता, भलाई और प्रेम का केन्द्र होने से समष्टि-आत्मा=परमात्मा की एक विशेष विभूति (जगत को धारण करने वाली शक्ति) है।

राज्य व्यवस्था का एक मात्र प्रयोजन जन-समाज को परस्पर में प्रेम सहित एक सूत्रबद्ध एवं सुव्यवस्थित रख कर उनका वास्तविक हित करना है, अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त जो राज्यसत्ता जिस समय आरूढ़ हो—चाहे वह वंश परम्परागत हो या प्रजा द्वारा निर्वाचित; एक व्यक्ति

की हो या अनेकों की सम्मिलित शक्ति की—उसमें श्रद्धा-विश्वास रखना; उसके साथ प्रेमयुक्त सहानुभूति रखना तथा सहयोग देना; उसके बनाये हुए नियमों (क़ानून) के अनुसार आचरण करना; सबके हित के लिए उसको सुव्यवस्थित रूप से चलाने में सहायक होना; उसकी त्रुटियों, भूलों असावधानियों तथा दुर्गुणों को उचित रीति से बताना और सुधरवाना; अपनी-अपनी योग्यतानुसार उचित सम्मति देना; यदि किसी समय की प्रचलित राज्य-सत्ता उस समय के लोगों की परिस्थिति के अनुकूल न हो तथा उसमें इतने दुर्गुण आ गए हों कि उससे लोगों की भलाई न होकर, हानि होती हो और प्रयत्न करने पर भी वह सुधर न सकती हो तो—किसी प्रकार की द्वेष-बुद्धि के बिना—सब के हित के लिए, प्रेमपूर्ण एकता के भाव से, उसको बदल कर उसके स्थान में—उस समय की परिस्थिति के उपयुक्त लोक-हितकारी दूसरी राज्यसत्ता स्थापित करने का उद्योग करना; यह सच्ची राज्य-भक्ति है। परन्तु यदि किसी राज्य-सत्ता के नियम (क़ानून) लोगों को कष्ट पहुँचाने वाले तथा आपस में अनैक्य उत्पन्न करने वाले हों तो उनका भी विरोध न करना; राज्य के अनुचित कार्यों में भी अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए सम्मति दे देना तथा उनसे सहानुभूति रख कर सहयोग देना; अत्याचारों को चुप-चाप सहन किए जाना; हानिकर नियमों को बदलवाने का प्रयत्न ही न करना; राज्य-सञ्चालन के विषय में सर्वथा उदासीन एवं अनजान रहना एवं अन्ध-विश्वास से राजा और राज्य-सत्ताधारियों के स्थूल शरीर ही को ईश्वर की विभूति मान कर जो कुछ वे करते रहें उसी को अच्छा मानना; अथवा बिना समुचित कारण के, व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अथवा ईर्षा-द्वेष से किसी राज्य-सत्ता को बदलने का प्रयत्न करना तथा उसकी अवहेलना करना, यह राज्य-भक्ति नहीं—राज्यद्रोह है।

वर्तमान समय में राज्य-भक्ति के विषय में बहुत ही खींचा-तानी चलती है। एक तरफ़ तो सत्ताधारी लोग निरङ्कुश सत्ता को ही प्रचलित रख कर अपना मनमाना शासन रखना चाहते हैं और लोगों के उचित अधिकारों

की माँग को भी राज्य-विद्रोह समझते हैं; और दूसरी तरफ सर्वथा-स्वाधीनतावादी लोग राज्य-सत्ता मात्र ही का विरोध करते हैं; वे किसी के भी शासन में रह कर, किसी भी नियम और क़ानून की पाबन्दी रखना नहीं चाहते और कोई किसी के अधीन न रह कर सब कोई पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होना अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते हैं। वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर देखा जाय तो दोनों ही पक्ष अपने-अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थों ही को प्रधानता देते हैं। यद्यपि जगत के व्यवहार अच्छी तरह नियम-बद्ध सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए राज्य-सत्ता का होना अत्यावश्यक है, परन्तु वही राज्य-सत्ता सबके लिए हितकर हो सकती है जिसकी प्रजा के साथ एकता हो अर्थात् जिसने अपने व्यक्तित्व को प्रजा के व्यक्तित्व में मिला दिया हो और अपने स्वार्थों को प्रजा के स्वार्थों के अन्तर्गत कर दिया हो। जिसमें दैवी सम्पद् के गुण—बुद्धि, बल और प्रेम की अर्थात् एकतापूर्ण युक्ति और शक्ति की (केवल कल्पना Theoritical ही नहीं, किन्तु व्यावहारिक Practical) अधिकता होती है; वही शासन कर सकता है; चाहे ये गुण किसी व्यक्ति-विशेष में हों या किसी जाति विशेष में अथवा किसी देश विशेष के निवासियों में; जिनमें ये सात्विक गुण अधिक होते हैं व इन गुणों की कमी वाले लोगों पर शासन करते हैं और जिनमें इन गुणों की कमी होती है वे इन गुणों की अधिकता वाले लोगों से शासित होते हैं।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

—गी० अ० १८-७८

अर्थ—जहाँ सब की एकता का केन्द्र योगेश्वर श्रीकृष्ण है अर्थात् जहाँ सबका ऐक्य है और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन है अर्थात् जहाँ युक्ति सहित शक्ति है वहीं निश्चयपूर्वक श्री यानी राज्यलक्ष्मी; विजय; ऐश्वर्य और नीति है—यह मेरा निश्चित मत है।

जो लोग इन गुणों के विना शासक बने रहना चाहें—वे कदापि सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। जब किसी शासक में ऐक्य के प्रेम-भाव युक्त-युक्ति और शक्ति की कमी आ जाती है तब वह अपनी सत्ता क़ायम रखने के लिए चाहे कितना ही प्रयत्न करे, उसकी सत्ता कदापि क़ायम नहीं रह सकती। इसी तरह जबतक शासित लोगों में इन गुणों की कमी रहती है तबतक उनको इन गुणों की अधिकता वालों के अधीन रहना ही पड़ता है चाहे वे शासक के साथ प्रेम (भक्ति) पूर्वक रहें या उससे द्वेष रखते हुए। प्रेमपूर्वक रहने से आपस की एकता के भाव उत्पन्न होकर बुद्धि और बल जल्दी संगठित हो सकते हैं जिससे पराधीनता से छुटकारा मिल सकता है। परन्तु द्वेष करने से अनैक्य (फूट) बढ़ती है जिससे बुद्धि और बल का ह्रास होता है, फलतः पराधीनता बनी रहती है।

मातृ-पितृ-भक्ति।

समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए मातृ-पितृ-भक्ति आवश्यक है; क्योंकि जिस तरह माता-पिता अपनी सन्तानों का, गर्भ से लेकर बड़े होने तक पालन-पोषण, रक्षण-शिक्षण आदि—एकता के प्रेम तथा निःस्वार्थ भाव से—करते हैं तभी सन्तान संसार के व्यवहार करने योग्य बनते हैं; उसी तरह, वृद्धावस्था में शरीर शिथिल हो जाने पर माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा, पालन-पोषण आदि एकता के प्रेम तथा निःस्वार्थ भाव से, सन्तान करे तभी वे लोग शान्तिपूर्वक अपना जीवन-यापन कर सकते हैं और परस्पर में इस तरह व्यवहार करने से व्यक्तिगत स्वार्थों के त्याग और दूसरों के साथ एकता के प्रेम का अभ्यास होता है। अतः माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा एवं आदर-सत्कार निःस्वार्थ भाव से, अपना कर्त्तव्य समझ कर करना; अपने सात्विक व्यवहारों से उनको सुख देना; अपने राजसी-तामसी व्यवहारों तथा विषय-भोगों के लिए उनको कदापि कष्ट न देना तथा उनका कभी अपमान न करना; उनकी उचित आज्ञाओं का

पालन करना; उनको सद्गति प्राप्त होने वाले व्यवहारों में सहायक होना तथा उनकी वृद्धावस्था में आदर सहित पालन-पोषण करना—यह सच्ची मातृ-पितृ-भक्ति है। परन्तु सात्विकता के विरुद्ध पड़ने वाली माता-पिता की राजसी-तामसी भावों की आज्ञाओं को अन्ध-श्रद्धा से, केवल इसलिए मानना कि माता-पिता की आज्ञाएँ मानना हर हालत में उचित ही है; उनको उचित सम्मति न देना; उनकी रजोगुणी-तमोगुणी वृत्तियों को प्रसन्न करने के लिए आत्मिक पतन करने वाले व्यवहार करना; उनके आधिभौतिक शरीर के मोह में फँसे रह कर उनके सच्चे आत्मिक सुख पर दुर्लक्ष्य रखना अथवा उनकी जीवित-काल में उनकी अवज्ञा करते रह कर मरने के बाद उनके लिए रोना-चिल्लाना, शोक करना तथा क्रिया-कर्म-श्राद्ध आदि लोक दिखावे के बड़े-बड़े राजसी-तामसी आडम्बर करके स्वयं क्लेश उठा कर मृतक को भी क्लेश पहुँचाना—यह मातृ-पितृ-भक्ति नहीं मातृ-पितृ-द्रोह है।

माता-पिता का विशेष सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर से ही है, अतः मातृ-पितृ-भक्ति में इतनी आसक्ति नहीं होनी चाहिए कि जिससे आत्मिक उन्नति के मार्ग में बाधा पहुँचे। भक्त प्रह्लाद का दृष्टान्त इस विषय में प्रसिद्ध है।

गुरु-भक्ति (आचार्योपासना)

विद्या पढ़ा कर सूक्ष्म विचारों में प्रवृत्त करने वाले तथा सत्य-ज्ञान के देने वाले श्रेष्ठ आचरण युक्त, सद्गुरु की सेवा-शुश्रूषा, आदर-सत्कार, भरण-पोषण करना तथा उसकी दी हुई विद्या तथा ज्ञान का सदुपयोग करना यह सच्ची गुरु-भक्ति है। परन्तु ऐसे सद्गुरु की सेवा-शुश्रूषा, भरण-पोषण आदि न करके तथा उसके उपदेशानुसार आचरण न करके केवल उसके भौतिक शरीर को ही ईश्वर-तुल्य मान कर उसका पूजन, अर्चन और स्पर्शादि करने मात्र ही से अपने को कृतकृत्य मानना तथा मूर्ख, पाखण्डी, अज्ञानी, दुराचारी एवं धूर्त—वंश परम्परागत तथा साम्प्रदायिक—गुरुओं

से केवल जनेऊ, कण्ठी आदि बन्धवा कर अथवा दीक्षा लेकर, अपनी बुद्धि से कुछ भी काम न लेते हुए, केवल अन्ध विश्वास से उनकी आज्ञाओं का पालन करना; उनके मुख से निकले वचन ही प्रमाण मानना; उनके घेरे के पशु बन जाना और ऐसे कुपात्र गुरुओं का आदर-सत्कार, भेंट-पूजा करके उनका गौरव बढ़ाना एवं सब कुछ उनके अर्पण करके उनके दुराचारों में सहायक होना—गुरुभक्ति नहीं, गुरुद्रोह है।

सद्गुरु अपने शिष्यों को—निःस्वार्थ प्रेम भाव से उनकी आत्मिक उन्नति के लिए—सत्य ज्ञान का उपदेश देते हैं, अतः वे आधिभौतिक शरीर के अर्चन-पूजन आदि से तथा आर्थिक भेंट-पूजा और भोग्य सामग्रियों से सन्तुष्ट नहीं होते, किन्तु उनके उपदेशों को धारण करके उनके अनुसार आचरण करने द्वारा अपनी आत्मिक उन्नति करने से सन्तुष्ट होते हैं।

पति-भक्ति (पातिव्रत्य)

नारी अखिल विश्व को अपने गर्भ में धारण करती है, अतः साधारणतया उसमें अपने जोड़े नर की अपेक्षा रजोगुण की विशेषता होना स्वाभाविक है और नर में नारी की अपेक्षा साधारणतया सतोगुण की विशेषता होना आवश्यक है; इसलिए साधारणतया पुरुष का पद स्त्री से बड़ा होता है अर्थात् वह उसका पूज्य होता है और स्त्री को ऐसे पुरुष के संरक्षण में रहना और उसकी अनुगामिनी होना उचित है। पुरुष का कर्त्तव्य स्त्री और बालकों के भरण-पोषण के लिए बाहर से आजीविका उपार्जन करके लाना है और स्त्री का कर्तव्य गृहस्थी का सब काम-सम्पादन करना तथा सन्तानों का पालन-पोषण करना आदि है। दोनों के परस्पर में एकता के प्रेम-भाव से अपने-अपने ज़िम्मे के काम बराबर करने ही से जगतका व्यवहार ठीक-ठीक चल सकता है और इसलिए स्त्री को पति-भक्त होना आवश्यक है।

अतः अपने-अपने समाज के नियमानुसार, सद्भावना से नियत किए

हुए योग्य पति के साथ अनन्य प्रेम रखना अर्थात् उसके सिवाय दूसरे किसी पुरुष से स्त्री-पुरुष के सहवास-सम्बन्धी प्रीति न रखना; अपना व्यक्तित्व उसमें जोड़ देना; तन, मन और वचन से उसका कोई अहित न करना, अपने मन की चंचलता से वस्त्राभूषण, विषय-भोग, धर्म-पुण्य, तीर्थ-व्रत आदि में समय, शक्ति और धन का इतना व्यय न कराना कि उनके लिए उसको बहुत परिश्रम करना, कष्ट उठाना तथा अनुचित कर्म करना पड़े; उसके व्यवसाय में सहायक होना; उसके सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, हर्ष-शोक, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति को अपना ही समझना; घर-गृहस्थी के काम अच्छी तरह करना; सात्विक भोजन तथा सेवा-शुश्रूषा से उसके शरीर की रक्षा करना; मीठे वचनों तथा नम्र और सत्य व्यवहार से उसको प्रसन्न रखना; कभी उससे छल, कपट और मिथ्या व्यवहार न करना और उसके साथ एक ताल-बद्ध होकर सात्विक व्यवहार तथा आत्मोन्नति के उपाय करना—यह सच्ची पति-भक्ति है। परन्तु आततायी, मूर्ख, अज्ञानी, कर्तव्य-विमुख, हृदयहीन, स्वार्थी माता-पिताओं आदि द्वारा नियत किए हुए क्रूर प्रकृति के दुष्ट, दुराचारी प्रमादी, गुण-हीन, अयोग्य और बेजोड़ पति से ही यावज्जीवन बँधे रह कर, आत्मा के विरुद्ध, उसकी अनुचित आज्ञाओं का अन्धविश्वास से पालन करते रहना और हृदय में प्रेम के भाव हुए बिना ही लोक-दिखावे के ऊपरी प्रेम का ढोंग करके उसको प्रसन्न करने के लिये अपनी आत्मा के पतन करने वाले व्यवहार करते हुए इस देव-दुर्लभ मनुष्य-जन्म का वास्तविक लाभ न उठा कर इसे वृथा गँवा देना; पति के निरंकुशतायुक्त अत्याचारों को चुपचाप सहन करते रहना; पति के शरीर की सेवा-शुश्रूषा, आदर-सत्कार तथा उससे प्रीति आदि के पतिभक्ति के व्यवहार करते रहने और उसके विदेश गमन पर खूब मोह करने पर भी अपने रजोगुणी विषय-सुख तथा वस्त्र-आभूषणों आदि के लिए उससे इतना व्यय करवाना कि वह जन्म भर आर्थिक कष्ट पाता रहे और मानसिक चिन्ता से ग्रस्त रहे; उसके

जीवित रहते उससे वास्तविक प्रेम न होते हुए भी उसके मरने पर उसके लिए अत्यन्त रोना-चिल्लाना और शोक करते रहना तथा हठ-पूर्वक भूख-प्यास, शीतोष्ण आदि द्वारा कष्ट सहन करके शरीर को सुखा कर अपनी आत्मा को तथा (सर्व भूतात्मैक्य सम्बन्ध से) मृत पति की आत्मा को भी क्लेश देना और बलात् वैधव्य रख कर अपने मनुष्य-जीवन के स्वभाव सिद्ध अधिकारों को भी, अप्राकृतिक पति-भक्ति की अन्ध-श्रद्धा से कुचल डालना एवं शरीर के प्राकृतिक वेगों के सहन न कर सकने पर—धर्मपूर्वक पुनर्विवाह न करके—गुप्त-रूप से कुमार्ग में प्रवृत्त होना और ज़ाहिर में पाति-व्रत्य का ढोंग करना —यह पति-भक्ति नहीं, किन्तु पति-द्रोह है।

पति-पत्नी का विशेष सम्बन्ध केवल स्थूल शरीरों का होता है और वह सम्बन्ध यहाँ ही जोड़ा जाता है यानी स्त्री-पुरुष के प्राकृतिक वेगों की मर्य्यादित रूप से शान्ति के लिए तथा एक दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए, एक दूसरे की सहायता से मनुष्य-देह के वास्तविक ध्येय = सच्चे आत्म-सुख प्राप्त करने के प्रयत्न में अग्रसर होने के लिए और साथ-ही-साथ समाज को सुव्यवस्थित रख कर पतन से बचाने के लिए, एक स्त्री का एक पुरुष के सहवास में जीवन-यात्रा करने के नियम, प्रत्येक सभ्य समाज में अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुकूल बने हुए हैं और उन नियमों के अनुसार जो सम्बन्ध जोड़े जाते हैं—उनको विवाह कहते हैं। विवाह का दूसरा अधिक महत्व का प्रयोजन यह है कि पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम के भाव इतने बढ़ जाते हैं कि दोनों का व्यक्तित्व एक हो जाता है और एक दूसरे के सुख-दुःख आदि अपने हो जाते हैं, अतः अपने पृथक व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर सब से एकता करने के सर्वात्म-भाव के अभ्यास में यह सब से बड़ा सहायक है। परन्तु यह प्रयोजन तब ही सिद्ध हो सकता है जब कि दोनों तरफ़ से एक समान निःस्वार्थ-प्रेमयुक्त बर्ताव हो तथा विवाह के नियम ऐसे हों कि जिनमें एकतरफ़े स्वार्थ के भाव न हों अर्थात् जिनसे दोनों के स्वत्व और अधिकार यथायोग्य सुरक्षित रहें

एवं जो दोनों की उन्नति के सहायक हों और जो देश, काल और व्यक्तियों की परिस्थिति के अनुसार संशोधित होते रहते हों। जब ऐसे नियम यथोचित रूप से पूरी तरह पालन किए जाते हैं तभी वे समाज को सुव्यवस्थित रख कर पतन से बचा सकते हैं। इसके विपरीत यदि एक के स्वार्थ के लिए दूसरे के अधिकारों को कुचलने के अन्यायपूर्ण एकतरफ़ा नियम बनाए जाते हैं, तो उस समाज का पतन अवश्य होता है।

वर्तमान में हिन्दू समाज में विवाह के नियम एकतरफ़ा स्वार्थ के हैं। चाहे वे पहले किसी ज़माने की परिस्थिति के उपयुक्त रहे हों, परन्तु वर्तमान परिस्थिति के तो बिल्कुल ही प्रतिकूल हैं। इन नियमों के अनुसार स्वार्थी और मूर्ख अर्थलोलुप पिता, माता, भाई अथवा उनकी अनुपस्थिति में कोई भी ग़ैरज़िम्मेवार कुटुम्बी, लड़की को—चाहे जिस अवस्था में, चाहे जैसे अयोग्य व्यक्ति को, चाहे जब तथा अपना दिल चाहे जैसी स्वार्थसिद्धि करके—दे डाले (क्योंकि यहाँ कन्या का विवाह नहीं होता, किन्तु पशुओं और जड़ पदार्थों की तरह कन्या का दान होता है) तो उसको बिना किसी प्रकार के उज़्र के उस व्यक्ति की दासी ही नहीं, किन्तु जड़ पदार्थ की तरह उसकी भोग्य वस्तु होकर रहना पड़ता है और अन्तःकरण में उस व्यक्ति से घृणा रखते हुए भी आत्मा के विरुद्ध उससे प्रीति का स्वाँग करना पड़ता है तथा उसके दासत्व में अपना अमूल्य मनुष्य-जीवन बिता देने के लिए मजबूर होना पड़ता है; सो भी उस व्यक्ति के जीवन काल तक ही नहीं, किन्तु उसके मरने के बाद भी जब तक वह स्त्री जीवित रहे तब तक उसकी मिल्कियत होती है और बिना पति के पतिव्रत धर्म-पालन का स्वाँग करना होता है। स्त्री के लिए तो उस पुरुष के साथ जन्म-जन्मान्तर पहिले का और जन्म-जन्मान्तर पीछे भी अनन्त काल तक का सम्बन्ध जुड़ा हुआ बताया जाता है, परन्तु पुरुष के लिए उस स्त्री के साथ इस जन्म में भी पक्का सम्बन्ध नहीं समझा जाता। उसके जीते-जी अनेक स्त्रियाँ ब्याही जा सकती हैं और अनेक बिना ब्याहे ही

रक्खी जा सकती हैं—यदि वह कुछ ऐतराज़ करे तो कठोर सज़ा पाती है। यद्यपि गुलामी की प्रथा वर्तमान क़ानून में नाजायज़ है, परन्तु स्त्रियों की यह गुलामी वर्तमान क़ानून में भी जायज़ है उनका इस गुलामी से उद्धार न तो कानून ही कर सकता है, न धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्थाएँ, और न देश को गुलामी से मुक्त करने का दावा करने वाले लोग ही। इस राक्षसी व्यवहार को इस समाज के लोग "पतिभक्ति" या "पातिव्रत-धर्म" कहते हैं; परन्तु वास्तव में यह पातिव्रत-धर्म नहीं, किन्तु उसकी विडम्बना और घोर अन्याय है।

स्वामी-भक्ति

संसार के व्यवहार सुव्यवस्थित चलाने के लिए नौकर का मालिक के प्रति पितृ-भाव और मालिक का नौकर के प्रति सन्तान-भाव रहना आवश्यक है, और अपने पृथक् व्यक्तित्व को दूसरों में जोड़ कर सबसे एकता करने का अभ्यास इस सम्बन्ध से भी बढ़ता है; अतः शरीर और उसके सम्बन्धियों के पालन-पोषण के लिए यदि किसी की नौकरी करना स्वीकार किया हो तो जब तक उसकी नौकरी करे, उस स्वामी के प्रति एकता के प्रेमपूर्वक आदर और श्रद्धा के भाव रखना; जो सेवा स्वीकार की हो, उसको दत्तचित्त होकर प्रसन्नता और तत्परता के साथ अच्छी तरह बजाना; स्वामी का कभी अहित-चिन्तन न करना; उसके सुख-दुःख हानि-लाभ मान-अपमान आदि को अपने ही तुल्य समझना उसको हानि या व्यथा पहुँचे, ऐसा कोई काम न करना—यह सच्ची स्वामि-भक्ति है। परन्तु दुष्टदुराचारी, आततायी एवं मूर्ख स्वामी की आज्ञाओं का अन्ध-विश्वास से पालन किए जाना; उसके अनुचित व्यवहारों में "हाँ में हाँ" मिला कर उनका प्रतिवाद न करना अथवा उचित सम्मति न देना और उसके स्नेह के वश होकर अथवा वेतन के लोभ से आत्मिक पतन कराने वाले कार्य करना—यह स्वामि-भक्ति नहीं, किन्तु स्वामी-द्रोह है।

वात्सल्य

अपनी पत्नी, सन्तान, प्रजा सेवक शिष्य आदि छोटे सम्बन्धियों से एकता का अनुभव करते हुए निःस्वार्थ भाव से, प्रेमपूर्वक उनके रक्षण-शिक्षण, पालन-पोषण आदि की सुव्यवस्था करके, उनको अनिष्ट से बचाने तथा उनकी उन्नति के लिए सद्भावना युक्त प्रयत्न करते रहना; उनके सुख-दुःखों को अपने समझना; सदुपदेशों द्वारा उनका अज्ञान दूर करके उनको सन्मार्ग पर चलाना तथा उनसे अपने-अपने कर्त्तव्य पालन करवाना और बुरे व्यवहारों, कुव्यसनों तथा विलासिता से उनको बचाना—यह सच्चा वात्सल्य है। परन्तु छोटे सम्बन्धियों के भौतिक शरीरों के प्रेम में इतना आसक्त हो जाना कि उनकी अरुचि के कारण उनको विद्याध्ययन न करवाना; सुशिक्षा न दिलाना; कुमार्गों तथा अनर्थ करने से न रोकना; राजस-तामस आहार-विहार की आदत डालना; प्रत्यक्ष में उनको थोड़ा शारीरिक कष्ट होने के भय से परिणाम के बहुत सुख की उपेक्षा करना; उनसे उनके कर्त्तव्य पालन करवाने में असावधानी करना और विपरीत आचरण करने पर उचित दण्ड न देना—यह वात्सल्य नहीं, किन्तु निष्ठुरता है।

स्नेह

अपने बराबरी के स्नेहियों से एकता का अनुभव करते हुए निःस्वार्थ भाव से, प्रेमपूर्वक उनके साथ सद्व्यवहार करना; उनकी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा कष्ट निवारण में सहायक होना और अनिष्ट से बचा कर उनके सच्चे सुख तथा वास्तविक हित-साधन के लिए यत्न करना तथा उनके हित की सम्मति देना—यह सच्चा स्नेह है। परन्तु उनके स्नेह में इतना आसक्त हो जाना कि उनकी अप्रसन्नता के भय से उचित सम्मति आदि भी न देना; उनके अनुचित हानिकारक व्यवहारों में साथ देना अथवा उनके स्नेह के वश स्वयं अनुचित कार्य करना यह स्नेह नहीं, किन्तु मित्र-द्रोह है।

अनुग्रह

अपने से हीन स्थिति वाले स्नेहियों के प्रति अनुग्रह के रूप में निःस्वार्थ भव से एकता का प्रेम रखना; यथाशक्ति उनकी वास्तविक आवश्यकताओं को पूरी करने का यत्न करना; उनके दुःखों में सहायक होना और उनके वास्तविक सुखों के लिए यथासाध्य उपाय करना—यह सच्चा अनुग्रह है। परन्तु कृपा के वश होकर उनके अवगुणों को सुधारने की उपेक्षा करना अथवा उनको निरुद्यमी, प्रमादी, उद्दण्ड और अत्याचारी बना कर संसार के प्रति उनको अपने कर्त्तव्य से विमुख रखना—यह अनुग्रह नहीं, किन्तु निर्दयता है।

मैत्री

जो लोग सुखी, धनी, बुद्धिमान्, विद्वान्, ऐश्वर्य्यवान्, सत्तावान् और सामर्थ्यवान हों उनसे साधारणतया मित्रता के भाव द्वारा प्रेम का बर्ताव करना अर्थात् उनके सुखादि को देख कर ईर्षा, द्वेष आदि न करना—यह सच्ची मैत्री है। परन्तु उक्त सुखी, धनी, बुद्धिमान्, विद्वान्, ऐश्वर्य्यवान्, सत्तावान् लोग यदि दुष्ट और दुराचारी हों, जिनसे दूसरों का अहित होता हो—या दूसरों को कष्ट पहुँचता हो—उनसे मैत्री का बर्ताव करना—मैत्री नहीं, किन्तु शत्रुता है।

करुणा-दया

जो लोग दुखी हों अर्थात् आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि किसी भी दुःख से ग्रस्त हों, अनाथ हों, असहाय हों; दीन हों या असमर्थ हों, उनके साथ; दया के भाव द्वारा, प्रेम का बर्ताव करना; यदि सामर्थ्य हो तो शक्ति के अनुसार उनके दुःखों में सहायक होना और दुःख-निवृत्ति का यत्न करना; परन्तु यदि सामर्थ्य न हो तो मन से दया करके उनके दुःख-निवृत्ति की कामना अवश्य करना—निष्ठुरता कदापि न करना—यह सच्ची करुणा या दया है। परन्तु दया के वश

होकर पात्रापात्र के विचार बिना धूर्तों, पाखण्डियों, दुराचारियों आलसियों, मुफ्तखोरों; खुशामदियों आदि पर दया करके, उनको सहायता देकर, उनके दुर्गुणों को बढ़ाना, जिससे उनका तथा दूसरों का अहित होता हो; अथवा जीव-दया के भाव में अत्यन्त आसक्त होकर अपने कर्त्तव्य-कर्म तथा लोक-व्यवहार करने में—किसी प्राणी को कष्ट होने की सम्भावना से—त्रुटि करना; हीन कोटि के प्राणियों पर दया करने के लिए उच्च कोटि के प्राणियों पर निर्दयता का बर्त्ताव करना अथवा किसी व्यक्ति विशेष के दुःखों से आर्द्र होकर निरन्तर उसी की चिन्ता करते रहना और उसके मोह में उलझ कर लोक-हित के व्यवहारों की अवहेलना करना तथा अपने सात्विक आचरण बिगाड़ कर आत्मविमुख होना—यह दया नहीं, किन्तु मानसिक दुर्बलता है।

मुदिता

जो लोग शुभ काम करते हों, अच्छे आचरण वाले हों, ज्ञानी, दानी, भक्त या परोपकारी हों—जिनसे उनकी कीर्ति होती हो—उनसे मन में मोद करना अर्थात् जिस तरह अपने तथा अपने आत्मीयों के सत्कार्यों की शोभा सुनकर प्रसन्नता होती है उसी तरह प्रसन्न होना; अन्य लोगों के सत्कर्मों की शोभा सुनकर मन में न कुढ़ना—यह सच्ची मुदिता है। परन्तु आसुरी स्वभाव वाले अभिमानी धनाढ्यों के राजसी-तामसी आडम्बरों से प्रसन्न होकर उनके लिए उनकी तारीफ़ करना—मुदिता नहीं, किन्तु चापलूसी है।

उपेक्षा

अज्ञानी, मूर्ख तथा दुष्ट प्रकृति के प्राणी—जिनकी मूर्खता एवं दुष्टता से स्वयं उनका तथा दूसरों का अहित एवं कष्ट होता हो—उनके प्रति द्वेष न रखते हुए, प्रेमपूर्वक उनकी मूर्खता एवं दुष्टता छुड़ाने का यत्न करना; समझाने या शिक्षा देने से यदि उनकी मूर्खता तथा दुष्ट भाव

न छूटे—और यदि अपने में सामर्थ्य हो—तो उनको डराना, दण्ड देना और अत्यन्त आवश्यकता आ पड़ने पर उनके तथा जगत के हित की दृष्टि से उनको प्राण-दण्ड तक दे देना—इसमें उनके प्रत्यक्ष के शारीरिक कष्ट या शरीर नाश की परवाह न करना अर्थात् उपेक्षा करना; और यदि सामर्थ्य न हो तो उनसे उदासीन रहना अर्थात् उन शरीरों का सङ्ग न करना—यह सच्ची उपेक्षा है। परन्तु मूर्खों एवं दुष्टों की मूर्खता एवं दुष्टता को छुड़ाने की सामर्थ्य होते हुए भी उदासीन रह कर उपेक्षा करना—यह उपेक्षा नहीं, किन्तु दुष्टों को सहयोग देना है।

ज्ञान

स्वयं अपने में, दूसरों में तथा संसार के सब जड़ एवं चेतन पदार्थों में एक ही परमात्मा एक समान व्यापक है, जो अपने में है वही दूसरों में है, एक परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है, जगत प्रपञ्च उस एक ही परमात्मा का अनेक प्रकार का रूप है, ऐसा ज्ञान निरन्तर रखते हुए संसार के व्यवहार करना और निजानन्द में मस्त रहते हुए संसार के पदार्थों और विषयों की इच्छा न रखना—यह सच्चा ज्ञान है। परन्तु मुँह से तो उक्त ज्ञान की बातें बनाना तथा शास्त्रार्थ करना, किन्तु व्यवहार उसके अनुसार कुछ भी न करना अर्थात् मुँह से अपने शरीर को "ब्रह्म" कहना और दूसरों को भिन्न समझ कर उनसे राग, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि के भेद-भाव रखना तथा सांसारिक पदार्थों और विषयों में आसक्त होकर अनर्थ और कुकर्म करना—यह ज्ञान नहीं, किन्तु दम्भ और पाखण्ड है।

त्याग—वैराग्य

अपने कर्त्तव्य-कर्म, अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के भाव न रखकर तथा उनमें "मैं करता हूँ" "मेरे काम हैं" "इस कर्म का मुझे यह फल मिलेगा"—इस तरह की ममता और सङ्ग से रहित होकर करना; गृहस्थ

में रहते हुए, शारीरिक एवं कौटुम्बिक आदि संसार के सब व्यवहार करते हुए, द्रव्यादि पदार्थ रखते हुए तथा नियमित भोग भोगते हुए भी, उनमें आसक्ति नहीं रखना अर्थात् उनमें ऐसा लिप्त न होना कि अपने असली स्वरूप = आत्मा को भूल जाय; पदार्थों के प्राप्त होने एवं रहने में हर्ष और उनके जाने में शोक नहीं करना तथा लोक-संग्रह के लिए ही पदार्थों का संग्रह और लोक-संग्रह के लिए ही उनका त्याग करना—यह सच्चा त्याग या वैराग्य है। परन्तु उपरोक्त सांसारिक व्यवहार करने में दुःख और शारीरिक कष्ट होने के भय से अथवा आलस्य और प्रमाद से, उसको इस तामसी अहङ्कारयुक्त छोड़ देना कि "मैं त्यागी हूँ, वैरागी हूँ, मैंने घर-गृहस्थ, द्रव्यादि सब त्याग दिए, मेरी किसी में प्रीति नहीं, मैं बड़ा विरक्त हूँ" अथवा सब विषय-भोग छोड़ कर मन में उनका चिन्तन करते रहना—यह त्याग नहीं, किन्तु राग और संग्रह है। क्योंकि जबतक त्यागने का व्यक्तिगत अहङ्कार रहता है तबतक वस्तुतः कुछ भी त्यागा नहीं गया।

वर्तमान समय में वैराग्य का व्यतिक्रम इतना हो गया है कि जिस-का जी चाहे वह संसार के व्यवहारों से विमुख होकर साधु, फ़कीर, यति ब्रह्मचारी और वैष्णव-वैरागी आदि का भेष ले लेता है। यही नहीं, किन्तु बहुत से बालकों को बाल्यावस्था ही में साधु आदि के बाने (स्वाँग) दे दिए जाते हैं और कइयों को तो जन्मते ही उनके माता-पिता, साधु आदि नामधारियों को भेंट कर देते हैं। इनमें लड़के-लड़की दोनों ही होते हैं। भला उस अवस्था में वे लोग त्याग-वैराग्य का प्रयोजन क्या जान सकते हैं? इन नामधारी साधु, फ़कीर, यति, ब्रह्मचारियों, वैष्णव-वैरागियों आदि की संख्या इतनी बढ़ गई है कि इन लोगों की अगणित सम्प्रदाएँ बन गई हैं। इनमें वास्तविक त्याग-वैराग्य का तत्त्व जानने वाले तो विरले ही महात्मा होते हैं, शेष जगत-व्यवहार से विमुख होकर प्रमाद, आलस्य और दुराचार में आयु बिताते हुए समाज पर —— हो रहे हैं और

वे स्वयं भी बहुत दुःख पाते हैं। ये लोग संसार में लोगों का कुछ भी हित किए बिना दूसरों की सेवा पर निर्भर रहते हुए शरीर-यात्रा करते हैं; और अज्ञानी लोग अन्ध-विश्वास से केवल भेष आदि आडम्बर ही के कारण इनको महात्मा मान कर इन निरुद्यमियों की पूजा, सेवा-शुश्रूषा, भरण-पोषण आदि करते हैं। वास्तव में जो व्यक्ति लोगों की कुछ भी सेवा किए बिना मुफ्त में दूसरों से सेवा करवाते हैं वे त्यागी या संन्यासी नहीं होते, किन्तु आलसी, प्रमादी, कर्त्तव्य-चोर होते हैं। इनमें से बहुत से तो साधु आदि के भेष में, बड़े धूर्त्त, ठग, विषय-लम्पट और नशेबाज़ होते हैं और आसुरी सम्पद के अनेक दुर्गुण इन लोगों में भरे रहते हैं। इन लोगों से जगत के अहित के सिवाय और कुछ भी नहीं होता।

समता

सत्-चित्-आनन्द स्वरूप आत्मा = परमात्मा जगत् में सर्वत्र, सर्वदा, एक समान ओत-प्रोत भरा हुआ है; उसके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है; स्थूल जगत का दृश्य प्रपञ्च उसकी माया-शक्ति का खेल मात्र है; वह भी उससे भिन्न नहीं; उसकी सच्ची और स्थायी सूक्ष्म सत्ता पर ही—क्षण-क्षण में परिवर्तन होने वाले स्थूल जगत की दिखावटी सत्ता निर्भर है और स्थावर-जङ्गम सब देहों में एक परमात्मा समान रूप से व्यापक है—यह साम्य भाव चित्त में रखते हुए जगत् के सब व्यवहार करना; सुख-दुख, हानि-लाभ, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, जय-पराजय, सिद्धि-असिद्धि, शुभ-अशुभ, प्रिय-अप्रिय, इष्ट-अनिष्ट, आदि द्वन्द्वों में हर्ष, शोक, राग और द्वेष की वृत्तियों से मन में विक्षेप उत्पन्न नहीं करना अर्थात् अनुकूलता में अत्यन्त आल्हाद और प्रतिकूलता में विषाद न करना; ये द्वन्द्व भी आत्मा-परमात्मा के अर्थात् अपनी आत्मा की माया-शक्ति के प्रतिक्षण परिवर्तन होने वाले खेल हैं—अपने से भिन्न कुछ भी नहीं है—ऐसा निश्चय करके एकरस रहना; तथा छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, ऊँच-नीच, अच्छे-बुरे

शत्रु-मित्र; अपने-पराए—सबको एक परमात्मा के अनेक रूप समझ कर (गी० अ० ५।१८) उनसे राग, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि भेद उत्पन्न करने वाले भाव न रखना, किन्तु सबके साथ एकता का अनुभव करते हुए यथायोग्य प्रेम * का व्यवहार करना।

> समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
> तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति ॥
>
> —गी० अ० १४-२४

> मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
> सर्वारम्भ परित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
>
> —गी० अ० १४-२५

अर्थ—जो अपने आप में स्थित होकर अर्थात् अपनी आत्मा ही में सबका समावेश जान कर, सुख-दुःख, माटी, पत्थर, सोना, प्रिय, अप्रिय, निन्दा, स्तुति, मान, अपमान, शत्रु, मित्र आदि द्वन्द्वों में सब अर्थात् एक समान रह कर विचलित नहीं होता और जिसने (विषमता के) सब आरम्भ (व्यवहार) छोड़ दिए हैं उस धीर पुरुष को गुणातीत कहते हैं।

और संसार-चक्र को चलाने में भिन्न-भिन्न शरीरों की योग्यतानुसार, उनके नाना भाँति के व्यवहारों का एक समान महत्त्व और एक समान आवश्यकता है—ऐसा समझ कर सबके साथ सहयोग रखते हुए अपना-अपना कर्त्तव्य पालन करते रहना; दूसरों के सुख-दुःख को अपने समान मान कर (गी० अ० ६-३२) परस्पर में सहायता देना और सबके हित का यथायोग्य ध्यान रखना—यह सच्ची समता है। परन्तु समता का यह अर्थ नहीं है कि जगत् के व्यवहार में छोटा, बड़ा, स्त्री, पुरुष, पशु-पक्षी अच्छा, बुरा, बुद्धिमान और मूर्ख सब एक ही प्रकार के कार्य करें और एक

---

* प्रेम का खुलासा इसके पहिले देखिए।

ही प्रकार के भोग भोगें; क्योंकि जगत प्रकृति के सत्व, और तम रज तीनों गुणों के तारतम्य का खेल है अर्थात् गुण-वैचित्र्य ही जगत है, अतएव यदि गुणों के तारतम्य के अनुसार भाँति-भाँति के कर्म न किए जायँ और भाँति-भाँति के ऊँचे-नीचे, अच्छे-बुरे भोग न भोगे जायँ तो कर्मों (प्रकृति) की साम्यावस्था में जगत के खेल का प्रलय हो जाय। अतः कर्म करने तथा उनके फल भोगने में समता होना प्रकृति के विरुद्ध है—इसलिए यह समता नहीं विषमता है। जिस शरीर के गुणों की जैसी योग्यता हो उसीके अनुसार कर्म करना और उन कर्मों के परिणाम-स्वरूप भाँति-भाँति के भोग भोगना ही सच्ची समता या साम्य-भाव है।

वर्तमान काल में साम्यवाद को लेकर सभ्य समाज में बहुत विश्रृङ्खलता उत्पन्न हो गई है। एक तरफ तो बढ़े हुए विचारों के साम्यवादी, मनुष्य मात्र के लिए एक समान कर्म करने और एक समान भोग भोगने का अधिकार स्थापित करने के अप्राकृतिक प्रयत्न में जी-जान से लगे हुए हैं और वे पूँजीपतियों तथा सत्ताधारियों से द्वेष तथा घृणा करते हैं; और दूसरी तरफ पूँजीपति तथा सत्ताधारी लोग स्वयं अपनी आवश्यकताओं से बहुत अधिक भोग भोगते हुए तथा आडम्बरों एवं अनाचारों में बेहिसाब पदार्थों का अपव्यय करते हुए साधारण लोगों तथा श्रमजीवियों के मनुष्योचित अधिकारों को कुचलते रहते हैं और (मनुष्य) जीवन के लिए उपयुक्त एवं आवश्यक भोग्य सामग्रियों से भी उनको वञ्चित रखने पर तुले हुए हैं। इन सम्पत्तिमानों के अतिरिक्त कट्टरधार्मिक विचारों के लोग, साम्प्रदायिकता की रूढ़ियों में जकड़े हुए—विषमता के व्यवहारों में हद दर्जे तक पहुँच गए हैं। मनुष्य-जगत के आधे-अङ्ग स्त्री-जाति को, पुरुषों ने अपने भोग की जड़-सामग्री की तरह मान कर, उसको मनुष्यता के अधिकारों ही से वञ्चित कर रक्खा है। पुरुष, संसार का सब ज्ञान—सब प्रकार की विद्याएँ पढ़कर—प्राप्त कर सकता है, परन्तु स्त्रियों को किसी भी विद्या के पढ़ने का कोई अधिकार नहीं। पुरुष, संसार

में चाहे जहाँ स्वतन्त्रतापूर्वक खुला विचर सकता है, परन्तु स्त्री को घर से बाहिर निकलने तथा अपना मुँह खोलने तक का भी अधिकार नहीं। संसार की सब सम्पत्ति और सब भोग्य पदार्थ तो एक मात्र पुरुषों की मौरूसी जायदाद ही है—यहाँ तक कि स्त्री का अपना व्यक्तित्व ही नहीं माना जाता, वह भी पुरुष का ही हो जाता है।' किन्तु परमात्मा की प्राप्ति भी पुरुष-समाज ने एकमात्र अपने लिए रिज़र्व रख कर स्त्रियों को उससे भी वञ्चित कर रक्खा है। जब अपने आधे अङ्ग स्त्री-जाति के साथ भी इतनी विषमता है तो इतर प्राणियों की तो गिनती ही क्या? पशु-पक्षी तो न केवल पुरुषों के खाद्य पदार्थ ही हैं, किन्तु उनके आमोद-प्रमोद के लिए भी बेचारों के प्राणों तक का हरण किया जाता है और पुरुषों के अदृष्ट स्वार्थों की सिद्धि के लिए कल्पित देवताओं के नाम पर इनका बलिदान किया जाता है।

मनुष्यों का मनुष्यों के साथ परस्पर में इतनी विषमता का वर्ताव है कि कई निम्न-श्रेणी के माने जाने वाले मनुष्यों को उच्च श्रेणी के अहंकार वाले मनुष्य छूना भी पाप समझते हैं और उनके साथ पशुओं से भी हीनता का व्यवहार करते हैं एवं उनपर पशुओं से भी अधिक अत्याचार करते हैं। उच्च-जाति वालों में आपस में भी इतना भेद-भाव है कि समान गुण-कर्म तथा सामान आचार-विचार वाले लोग भी आपस में खान-पान और विवाह-सम्बन्ध के व्यवहार नहीं करते। एक दूसरे को नीचा और अपवित्र मान कर आपस में परहेज़ करते हैं। यह विषमता यहाँ तक बढ़ी हुई है कि कहीं कहीं तो सगे भाई (सहोदर) भी एक दूसरे का छुआ नहीं खाते और पत्नी पति का छुआ नहीं खाती।

जिस तरह इस प्रकार की विषमता अप्राकृतिक तथा सर्वनाश करने वाली है, उसी तरह कर्म करने तथा भोग भोगने में एकाकार समता होना भी अप्राकृतिक तथा नाशकारी है। यह बात पहिले कही जा चुकी है कि जगत्, परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल है और गुणों का तारतम्य

होने ही से यह खेल बनता है; गुण-वैचित्र्य ही संसार है। गुणों की साम्यावस्था में संसार ही नहीं रहता, इसलिए गुणों की पूर्ण समता हो ही नहीं सकती। अतः जब तक संसार है, तबतक गुणों की विषमता रहनी अनिवार्य है। परन्तु वह विषमता गुण वैचित्र्य तक ही सीमाबद्ध रहनी चाहिए। इससे बढ़कर, जो जाति या समाज अपने स्वार्थ तथा अहंकार से ज़बरदस्ती अपने मनमानी विषमता उत्पन्न करता है, वह प्रकृति के विरुद्ध पड़ता है, अतः उसका विनाश होता है।

जगत के स्थावर—पाषाण आदि—पदार्थों में तमोगुण की अधिकता होती है; उनमें सत्व, रज बहुत ही अल्प होते हैं; वृक्षादिकों में क्रमशः पाषाण आदि से तमोगुण कुछ कम होता है; और सत-रज का कुछ उत्कर्ष होता है, इसी तरह पशुपक्षियों में क्रमशः वृक्षादिकों से गुणोत्कर्ष है और मनुष्यों में आपस में क्रमशः पशु आदिकों से गुणोत्कर्ष है। मनुष्यों में भी गुणों का अनन्त तारतम्य है, परन्तु सामाजिक सुव्यवस्था के लिहाज से साधारणतया उनके चार प्रधान भेद किये जाते हैं। कइयों में तमोगुण की अधिकता होती है और सत्व की न्यूनता; कइयों में रज की अधिकता और सत्व की न्यूनता; कइयों में रज की अधिकता और तम की न्यूनता एवं कइयों में सत्व की अधिकता और रज-तम की न्यूनता होती है। जिनमें तम की अधिकता और सत्व की न्यूनता होती है, उनमें बुद्धि का विकाश बहुत कम होता है, अतः उनमें बुद्धि द्वारा सूक्ष्म विचार करने की योग्यता नहीं होती; किन्तु दूसरों के आदेशानुसार स्थूल शरीर से काम करने की (शारीरिक श्रम की) योग्यता अधिक होती है। जिनमें रजोगुण की अधिकता और सत्व कम होता है, उनमें अपनी बुद्धि की प्रेरणा और क्रिया शक्ति से व्यवसाय आदि करने की योग्यता पहिले वालों से अधिक होती है। जिनमें रज की अधिकता और तम की न्यूनता होती है, उनमें उपरोक्त दोनों की अपेक्षा बुद्धि का विकाश और क्रिया अधिक होती है और अपनी प्रेरणा से काम करने की शक्ति विशेष योग्यता रहती है,अतः उनमें दूसरों का शासन और

रक्षण करने की योग्यता होती है; और जिनमें सत्वगुण की अधिकता और तमोगुण की न्यूनता होती है, उनकी बुद्धि बहुत विकसित हो जाती है, अतः उनमें सब प्रकार के सूक्ष्म ज्ञान सम्पादन करने तथा उनके प्रचार करने की विशेष योग्यता होती है। अतः गुणोत्कर्ष के अनुसार जिनमें बुद्धि का विकाश कम होता है—शारीरिक श्रम की योग्यता विशेष होती है—वे शारीरिक श्रम ही कर सकते हैं, बुद्धि का कार्य उनसे नहीं हो सकता; और उनको शारीरिक श्रम—जिनकी बुद्धि विकसित हुई है, उनके आदेशानुसार—करना होता है; क्योंकि स्थूल कर्म से सूक्ष्म बुद्धि श्रेष्ठ होती है। इसलिए केवल शारीरिक श्रम करने वाले तम-प्रधान लोगों के लिए सत्व, रज-प्रधान लोगों की शिक्षा, रक्षा तथा व्यवसाय के आश्रय में अपना व्यवसाय करना आवश्यक है। और सत्व प्रधान लोग रज-तम प्रधान लोगों के रक्षण, व्यवसाय तथा श्रम के आश्रय से ही अपनी विद्या तथा ज्ञान का व्यवसाय कर सकते हैं। इसी तरह मध्य-श्रेणी के गुण विकास वाले लोगों का परस्पर सम्बन्ध रहता है और एक को दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। सब को अपने-अपने गुणों के तारतम्य के अनुसार भिन्न-भिन्न काम करने होते हैं और उनके अनुसार ही खान-पान, रहन-सहन तथा दूसरे भोग भी भिन्न-भिन्न श्रेणी के उनके उपयुक्त होते हैं। सत्व गुण प्रधान लोगों के खान-पान, रहन- सहन आदि तमोगुण प्रधान लोगों के अनुकूल नहीं पड़ते और तमोगुण वालों के खान-पान रहन-सहन आदि सत्व-गुण वालों के अनुकूल नहीं पड़ते। इसी तरह दूसरों के समझना चाहिए।

स्त्रियों में साधारणतया अपने समान गुणों के पुरुषों की अपेक्षा स्वभाव से ही कुछ रजोगुण की विशेषता रहती है। अतः उनमें साधारणतया अपने-अपने गृहस्थी के और अपने-अपने समाज के भीतरी काम-काज करने की ही विशेष योग्यता रहती है। इसलिए द्रव्योपार्जन आदि के बाहरी सब काम-काज के लिए पुरुषों के आश्रय में रह कर गृह के

भीतरी सब कामों की वह स्वामिनी होती है। और पुरुषों को गृहस्थ के कामों के लिए स्त्रियों पर निर्भर रहते हुए बाहरी काम करने होते हैं। दोनों ही को एक दूसरे की एक समान अपेक्षा रहती है। तात्पर्य यह है कि स्त्री-पुरुषों के कर्तव्य-कर्म यद्यपि बटे हुए हैं, परन्तु हैं वे एक ही श्रेणी के; अतः समान गुणों के स्त्री-पुरुषों के खान-पान रहन-सहन आदि प्रायः समान श्रेणी के होने चाहिए।

सारांश यह कि गुणों के तारतम्य के आधार पर अपनी-अपनी योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न कर्म करना तथा भिन्न-भिन्न भोग भोगना—यही सच्ची समता है। गुणों की उपेक्षा करके सबके एक समान कर्म और एक समान भोग अथवा गुणों के विपरीत कर्म और भोग—समता नहीं किन्तु विषमता है।

पाषाण, वृक्ष, पशु-पक्षी आदि सब जड़ और चेतन पदार्थों के साथ भी उनके गुणानुसार यथायोग्य व्यवहार करना ही समता है।

सूक्ष्म-विचार से देखा जाय तो गुणों के तारतम्य के अनुसार भिन्न-भिन्न कर्म और भिन्न-भिन्न भोगों की उपरोक्त विषमता भी केवल समष्टि-आत्मा-परमात्मा की माया के खेल—इस संसार-चक्र को यथावत् चलाने के लिए है, अतः यह विषमता भी केवल दिखावटी खेल मात्र ही है; क्योंकि ऊँचे-नीचे कर्म और भोगों से होने वाले सुख-दुःख भी अस्थायी—क्षण-क्षण में परिवर्तनशील होते हैं। स्थायी और वास्तविक सुख या दुःख किसी भी कर्म या भोग में नहीं है। साँसारिक विषय-भोग—बड़े-छोटे, अमीर-गरीब—सब ही के लिए दुःख परिणाम वाले होते हैं; अधिक भोगों से अधिक और थोड़े से थोड़ा दुःख होता है। अतः वास्तव में भिन्नता कुछ है नहीं, क्योंकि कर्म और भोग तथा उनके उपयुक्त सब सामग्री एवं सब शरीर एक ही परमात्मा के अनेक मायिक रूप हैं। उससे पृथक कुछ है नहीं। जो परमात्मा पण्डितों तथा उनके शास्त्र ग्रन्थों में है; जो हवन करने वालों तथा हवन-कुण्ड में है; ज्ञानियों तथा

उनके ज्ञान में है; साधुओं तथा उनके भेष में है योगियों तथा उनकी समाधि में है; मन्दिरों, पुजारियों तथा मूर्तियों में है और जो परमात्मा कर्मकाण्डियों तथा उनके कर्मों में है—वही परमात्मा शासक क्षत्रियों और उनकी तलवारों में; वही वैश्यों और उनकी क़लम में; शिल्पकार और उसकी शिल्प कला में; लोहार और उसकी भट्टी में; कुम्हार और उसके चाक में; सुथार और उसके बसोले में; जुलाहा और उसके कर्घे में, कारख़ानों और मशीनों में; इञ्जन और बायलरों में, मेहतर और उसके झाडू में; चमार और उसके चमड़े में तथा क़साई और उसके छुरे में है और वही परमात्मा पुरुषों और उनके द्रव्योपार्जन के उद्योगों में और वही स्त्रियों तथा उनके गृहस्थ के काम-काज में है।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्तिधनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगण इव ॥
—गी० अ० ७-७

अर्थ—हे धनञ्जय ! मुझसे परे अर्थात् मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है; यह सब संसार धागे में पिरोए हुए (धागे ही की) मणियों की तरह मुझमें गुँथा है।

सारांश यह कि वास्तव में बड़े, छोटे, ऊँच, नीच, पवित्र, अपवित्र आदि का भेद कुछ भी नहीं है। अपनी-अपनी योग्यतानुसार सभी काम इकसार उपयोगी और आवश्यक हैं और संसार चक्र को अच्छी तरह चलाने के लिए अपने-अपने स्थान में सब के कर्म अच्छे हैं; क्योंकि सब कर्म तथा उनके कर्त्ता सभी परमात्मा के व्यक्त-स्वरूप हैं। इसलिए किसी से द्वेष, घृणा या तिरस्कार न करके सब से एकता का साम्य-भाव रखते हुए तथा दूसरों के उचित अधिकारों पर आघात पहुँचाये बिना—गुणों के तारतम्य के अनुसार—अपने-अपने व्यवहार करने तथा उनके अनुसार ही भोग भोगने में सन्तुष्ट रहना—यही वास्तविक समता है।

सन्तोष ।

अपने कर्त्तव्य-कर्म खूब अच्छी तरह पूर्ण शक्ति एवं युक्ति के साथ—करने पर जो सुख-दुःख, हानि-लाभ, कीर्ति-अकीर्ति आदि प्राप्त हो जाय उसी में सन्तुष्ट रहना और चित्त को शान्त रखना ही सचा सन्तोष है। परन्तु सन्तोष का यह तात्पर्य नहीं कि प्रारब्ध, दैव, भावी या ईश्वर के भरोसे पर बैठ कर उद्यम ही न करना; अपने तथा दूसरे लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा इहलौकिक सुख-समृद्धि एवं पारलौकिक श्रेय साधन के लिए उद्यम ही न करना—यह सन्तोष नहीं, किन्तु आलस्य एवं प्रमाद है। सात्विक आचरण एवं शुभ व्यवहारों में निरन्तर दत्त-चित्त होकर उद्यम करते रहना चाहिए।

शम ।

मन को अपने वश में रख कर सांसारिक विषयों में आसक्त न होने देना; संकल्प-विकल्पों से निग्रह कर उसे आत्मा अर्थात् एकता में जोड़ना और अपने कर्तव्य-कर्म जिस समय जो उपस्थित हों उनमें लगाना तथा उन कर्तव्य-कर्मों के करने में एकाग्र रखना—यह सच्चा शम है। परन्तु मन को सर्वथा मार डालने का उद्योग करना या उसे संसार के व्यवहारों से सर्वथा हटा लेना—यह शम नहीं, दुराग्रह है; क्योंकि संसार के व्यवहार मन से ही चलते हैं और जबतक संसार है तबतक मन का नाश नहीं हो सकता। अतः मनको सदा वश में रख कर साम्य भाव से व्यवहार करना ही सच्चा शम है।

दम

इन्द्रियों के विषय मर्यादित-रूप से, मन को वश में रखते हुए—आसक्ति एवं राग-द्वेष रहित होकर—जैसे प्राप्त हो जायँ, भोग कर परम सन्तुष्ट रहना; विषयों के भोगने में इतना आसक्त न होना कि रात-दिन उन्हीं में लगे रह कर लोक-व्यवहार बिगाड़ दिए जाय तथा सात्विक आच-

रण छूट कर विपरीत व्यवहारों में प्रवृत्ति हो जाय अर्थात् इन्द्रियों के अधीन न होकर उनको अपने अधीन रखते हुए विषय भोगना—यह सच्चा दम है।

> रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
> आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
>
> —गी० अ० २·६४

अर्थ—राग-द्वेष को छोड़ कर, अपने अधीन की हुई इन्द्रियों से विषयों को भोग करके भी, अपना अन्तःकरण वश में रखता हुआ मनुष्य प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

परन्तु हठ से इन्द्रियों को अपने विषयों से सर्वथा हटाकर मन से उनका चिन्तन करते रहना तथा शारीरिक वेगों से मन को विक्षिप्त रखना—दम नहीं, किन्तु मिथ्याचार है।

श्रद्धा-विश्वास-आस्तिकता

जो पदार्थ वस्तुतः जैसा है उसको वैसा ही मानना अर्थात् प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले—इन्द्रिय-गोचर-स्थूल जगत् के नाना भाँति के दिखाव को—प्रतिक्षण परिवर्तनशील तथा उत्पत्ति-विनाश वाला होने के कारण झूठा, और उसके एकत्व भाव के अस्तित्व को सदा एकरस रहने वाला, समझ कर सचा मानना; और उस एकत्वभाव यानी असली सूक्ष्म तत्त्व—सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप आत्मा-परमात्मा—को यथावत् जानने का श्रद्धापूर्वक प्रयत्न करना; आत्मा-परमात्मा इन्द्रियातीत है अर्थात् इन्द्रियों, मन और स्थूल-बुद्धि से वह जाना नहीं जा सकता; वह तो अपरोक्ष ज्ञान अर्थात् अनुभव का ही विषय है और वह अपरोक्ष ज्ञान अर्थात् आत्मानुभव—अनेक जन्मों तक सात्विक व्यवहार करते-करते बहुत दीर्घकाल के अभ्यास के बाद सर्वभूतात्मैक्य बुद्धि होने पर—विरले ही सज्जनों को होता है, साधारण व्यक्तियों को केवल पढ़ने-सुनने मात्र से

उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो सकता, अतः उस अव्यक्त, अविनाशी, सबके हृदय में स्थित आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व और उसकी सर्वव्याप्-कता के विषय में; जिन ज्ञानी महात्माओं ने उसका प्रत्यक्ष अनुभव किया है उनके वचनों में श्रद्धा-विश्वास रखना तथा उक्त अपरोक्ष ज्ञान यानी आत्मानुभव प्राप्त करने के लिए उक्त ज्ञानी महात्माओं के उपदेशानुसार सात्विक आचरण श्रद्धापूर्वक करना; सत्शास्त्रों के अध्ययन में तथा जिनमें दैवी-सम्पद् के गुण अधिक हों और जो देवताओं की तरह सर्वभूत-प्राणियों के हित में लगे हों, उनके वाक्यों तथा उपदेशों में और जिस विषय का जिसको यथार्थ ज्ञान हो उस विषय में उसकी बातों में श्रद्धा रखना और प्रत्येक उद्योग में अपनी और सबकी आत्मा (परमात्मा) पर सबसे अधिक भरोसा रखना—यह सच्ची श्रद्धा, विश्वास अथवा आस्तिकता है। आत्मविश्वास-रूपी सच्ची श्रद्धा के बिना संसार का कोई भी व्यवहार ठीक-ठीक चल नहीं सकता और न आत्मविश्वास के बिना किसी प्रकार की सफलता ही हो सकती है। इसी तरह लौकिक या पारमार्थिक, किसी भी प्रकार के व्यवहार में पहिले दूसरों के किए हुए अनुभव पर श्रद्धा करके ही प्रवृत्ति होती है और एक दूसरे का कुछ-न-कुछ विश्वास करना ही पड़ता है। श्रद्धा के बिना संशययुक्त चित्त से किया हुआ कोई भी काम सिद्ध नहीं हो सकता।

> अश्रद्धयाहुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
> असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥
>
> —गी० अ० १७-२८

अर्थ—अश्रद्धा से जो यज्ञ किया हो, दान दिया हो, तप किया हो या जो कुछ कर्म किया हो, वह "असत्" कहा जाता है। हे पार्थ! वह (मरने पर) परलोक और (जीवित रहते) इस लोक, दोनों में ही निरर्थक है।

यहाँ तक कि सबका जीवन ही श्रद्धामय है।

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

—गी० अ० १७-३

अर्थ—हे भारत ! सब लोगों की श्रद्धा अपने-अपने सत्व अर्थात् प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार होती है। मनुष्य श्रद्धामय ही है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही होता है।

परन्तु श्रद्धा सात्विक होनी चाहिए।

यजन्ते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणाश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥

—गी० अ० १७-४

अर्थ—सात्विक लोगों की देवों में अर्थात् जिनमें दैवी सम्पद् के गुण भरे हों, अथवा जो दैवी शक्तियों की तरह सबके साथ एकता के भाव रखते हों—उनमें श्रद्धा होती है; रजोगुणी लोगों की यक्षो और राक्षसों में अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थ यानी धन, मान और कीर्ति आदि के (अर्थ) लोलुप व्यक्तियों अथवा धनाढ्यों में तथा राक्षसी प्रकृति के आततायियों (अत्याचारियों) में श्रद्धा होती है और तमोगुणी लोगों की प्रेत अर्थात् मरे हुओं में और भूत अर्थात् जड़ पदार्थों तथा जड़ प्रकृति के लोगों में श्रद्धा होती है।

परन्तु सात्विकी श्रद्धा भी पहिले किसी कार्य में प्रवृत्त होने तक ही रहनी चाहिए। जब किसी कार्य में प्रवृत्त होकर उसका कुछ अनुभव कर लिया जाय तब उसमें अन्धश्रद्धा नहीं रखनी चाहिए, किन्तु फिर अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिए अर्थात आत्म-विश्वास एवं स्वावलम्बन का आश्रय लेना चाहिए। किसी भी कार्य में बुद्धि से कुछ भी काम न लेकर तथा अपनी आत्मा अर्थात स्वावलम्बन पर भरोसा न करके सदा दूसरों पर अन्ध-श्रद्धा रख कर और दूसरों पर निर्भर रह कर परावलम्बी बने रहना—यह श्रद्धा या आस्तिकता नहीं, किन्तु नास्तिकता है। जिस तरह

भेद-बुद्धि से एक परमात्मा से भिन्न अनेक परोक्ष देवी-देवता, भूत-प्रेत, पीर-पैग़म्बर आदि की कल्पना करके अन्धविश्वास से उनका पूजन-अर्चन करना; उनकी अप्रसन्नता से विपत्तियों की उत्पत्ति मानना और उनके प्रसन्न होने से विपत्तियों से छुटकारा पाने तथा पुत्र-कलत्र, धन-धान्य, मान-प्रतिष्ठा आदि प्राप्त होने का विश्वास रखना तथा उनको प्रसन्न करने के लिए न्याय या अन्याय से पदार्थ-संग्रह करके उनके नाम पर भेंट करना और पशु तथा अन्य प्राणियों की बलि देना; अज्ञानी, मूर्ख, दम्भी, स्वार्थी तथा वाक्पटु-धूर्तों की बातों तथा ऐसे लोगों के रचे हुए शास्त्रों में अन्ध-विश्वास रखना; जिसको जिस विषय का यथार्थ ज्ञान नहीं उस विषय में उसकी बातें मानना; अपनी बुद्धि से काम न लेकर पुराने ग्रन्थों में लिखी हुई होने से अथवा नए ज़माने की पुस्तकों के प्रमाण ही से अथवा पूर्वजों की प्रचलित की हुई होने से अथवा नई रोशनी के लोगों के स्वीकार कर लेने ही से किसी व्यवस्था पर अन्ध-विश्वास की श्रद्धा कर लेना—यह राजसी-तामसी श्रद्धा है।

सरलता

साधारणतया स्वभाव सरल अर्थात सीधा रखना; अपनी तरफ़ से किसी के साथ छल, कपट, टेढ़ापन, ऐंठन रुखाई तथा कूट-नीति के भाव चित्त में न रखना तथा वाणी और शरीर से ऐसे व्यवहार न करना—सच्ची सरलता है। परन्तु दम्भियों, ठगों, धूर्तों तथा दुष्टों के साथ सरलता तथा सीधेपन का भाव रख कर उनके फन्दे में फँस जाना और अपने कर्तव्य बिगाड़ देना सरलता नहीं, भोंदूपन है।

धैर्य

सुख-दुःख, हानि-लाभ, हर्ष-शोक, मानापमान, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वों एवं शारीरिक कष्ट से व्याकुल होकर धीरज न छोड़ना और अपने कर्तव्य-कर्म पर दृढ़ रहना—सच्चा धैर्य्य है। परन्तु अनर्थ को टालने की सामर्थ्य

होते हुए भी चुप होकर बैठे रहना तथा जिस काम में अनर्थ के सिवाय और कोई शुभ होने की सम्भावना दीखे तो भी वह करते ही जाना, उसे बदलने की चेष्टा करने में विलम्ब करना—धैर्य्य नहीं किन्तु प्रमाद है।

उत्साह

अपने कर्तव्य-सम्पादन करने में प्रफुल्ल-चित्त से उद्योग करते हुए अग्रसर होते रहना; हताश न होना—सच्चा उत्साह है। परन्तु अपनी शक्ति और परिणाम को सोचे-विचारे बिना किसी भी कार्य में कूद पड़ना तथा विपरीत व्यवहारों में उत्साह दिखाना—उत्साह नहीं किन्तु चपलता है।

उदारता

दूसरों के विचारों, विश्वासों, सत्कार्यों तथा गुणों को उचित महत्व देना; दूसरों के सुख-दुःख, हानि-लाभ, मानापमान, निन्दा-स्तुति आदि में हमदर्दी रखना; केवल अपने ही स्वार्थ पर लक्ष्य न रख कर दूसरों के स्वार्थों को भी स्थान देना; लोगों की वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए सुपात्रों को द्रव्यादिक दान देना; देश और काल की परिस्थिति तथा आवश्यकतानुसार अपने विचारों में परिवर्तन करना—सच्ची उदारता है। परन्तु निरर्थक फिजूल खर्च करना; अन्ध-विश्वास से दम्भियों का आदर व पूजन करके उनको बेसमझी से दान देकर उनका महत्व बढ़ाना; ठगों तथा खुशामदियों की बातों में आकर अपव्यय करना तथा हर एक आदमी की बात मान कर अपने विचारों का परिवर्तन करते रहना—उदारता नहीं किन्तु भोंदूपन है।

प्रसन्नता

दुःख, हानि, रोग, विपत्ति, वृद्धावस्था, प्रियजनों तथा प्रिय वस्तुओं के बिछुड़ने आदि अनिष्ट की प्राप्ति होने पर भी शोक न करना, किन्तु चित्त प्रसन्न रखना—सच्ची प्रसन्नता है। परन्तु दूसरों के अनिष्ट, दुःख,

हानि; पीड़ा, अपमान व निन्दा से खुश होना—यह प्रसन्नता नहीं किन्तु निर्दयता और नीचता है।

अभय—वीरता

सात्विक व्यवहारों में तथा अपने कर्तव्य-पालन में किसी प्रकार का ऐहिलौकिक व पारलौकि, दृष्ट व अदृष्ट, भय न रखना; आत्मा अजर-अमर है—यह शस्त्रों से कट नहीं सकता, अग्नि से जल नहीं सकता, पानी में गल नहीं सकता, इसको कोई किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकता; अतः इसके विषय में कोई भय नहीं हो सकता।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं
भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

—गी० अ० २-२०

अर्थ—यह (आत्मा) न तो कभी जन्मता और न मरता ही है। ऐसा भी नहीं है कि वह (एक बार) होकर फिर होने का नहीं। यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के वध हो जाने पर भी यह नहीं मरता।

अतएव सब भूत-प्राणियों में एकात्म बुद्धि रखते हुए संसार के व्यवहार में अपने कर्तव्य-कर्म निडर होकर करना; यदि अपने कर्त्तव्य-पालन करने में शरीर की मृत्यु होने की भी आशङ्का हो तो भी नहीं डरना; युद्धादि में शरीर की कुछ भी परवाह न करके वीरतापूर्वक लड़ना; लोकहित के कामों में निर्भय होकर शरीर तक भी अर्पण कर देना; आत्मिक उन्नति के उद्योग में राज, समाज, बड़े-छोटे किसी से भी न डरना तथा दूसरों को भी इस प्रकार के व्यवहार करने में सहायता देकर और इसी तरह की शिक्षा देकर अभय करना—यह अभय अर्थात् सच्ची वीरता है। परन्तु

अपने शरीर को अजर, अमर समझ कर राजसी-तामसी बुरे काम करने में निर्भय हो जाना तथा दुराचारियों को कुकर्म करने में अभय कर देना यह अभय या वीरता नहीं, किन्तु कायरता है।

निरहङ्कार

संसार के व्यवहार "मैं करता हूँ मैं त्यागता हूँ, मैं सुखी हूँ मैं दुखी हूँ, मैं बड़ा हूँ, मैं छोटा हूँ, मेरा अमुक वर्ण तथा अमुक आश्रम है" इत्यादि देहाभिमान जन्य मलिन अहङ्कार, के भाव चित्त में न रखना; "मैं यह प्रति क्षण बदलने तथा उत्पत्ति नाश वाला शरीर नहीं, किन्तु शरीर के अन्दर रहने वाला सच्चिदानन्द अविनाशी आत्मा हूँ; शरीर तो मेरे रहने का स्थान है, जिस में रह कर मैं जगत का खेल किया करता हूँ; सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप आत्मा अकर्त्ता होने से उसमें सुख दुःखादि द्वन्द्व धर्म नहीं होते, ये सब मेरी प्रकृति के खेल हैं, (मैं आत्मा) इन खेलों में केवल साधारण सत्ता एवं स्फूर्ति देने वाला हूँ; सब कुछ करता हुआ भी मैं वास्तव में कर्त्ता-भोक्ता नहीं—"इस तरह के भाव अन्तःकरण में रखते हुए संसार के सब व्यवहार करना—यह सच्चा निरहङ्कार है। परन्तु निरहङ्कार का यथार्थ तत्त्व न समझ कर व्यवहार में अपने कर्त्तव्य पालन करने की ज़िम्मेवारी को भूल जाना और कुछ भी न करना यह निरहङ्कार नहीं—जड़ता है। क्योंकि व्यवहार त्यागने का भाव भी तामसी अहङ्कार है इसलिए अपने अन्तःकरण पर किसी प्रकार के शारीरिक अहङ्कार का अभिनिवेश न रखते हुए यथायोग्य संसार के सब व्यवहार करना ही वास्तविक निरहङ्कार है।

सत्य बोलना

सत्य, मधुर और लोक-हितकर वचन बोलना—सच्चा सत्य है। परन्तु जिन सत्य वचनों से दूसरों को बिना प्रयोजन उद्वेग उत्पन्न होता हो अथवा कठोरता से दूसरों के चित्त पर आघात पहुँचता हो अथवा जिन

सत्य वचनों से लोगों का अहित होता हो, ऐसे वचन केवल सत्यवादीपन के अहङ्कार और हठ से बोलना—यह सत्य नहीं किन्तु असत्य है। जो सत्य हित का विरोधी हो वह वास्तव में सत्य नहीं होता, क्योंकि हित की बात किसी समय सत्य या प्रिय न भी हो तो उससे किसी की कोई हानि नहीं होती, परन्तु अहित की बात यदि सत्य और प्रिय भी हो तो उससे हानि के सिवाय लाभ नहीं होता—अतएव प्रधान लक्ष्य हित पर ही रखना चाहिए। सबके लिए हितकर वाक्य अन्त में सत्य हो ही जाते हैं। केवल मुख से उच्चारण कर देने मात्र से कोई वाक्य सत्य या झूठ नहीं होता; वचनों की सत्यता या असत्यता, बोलने वाले के भाव और उससे होने वाले परिणाम पर निर्भर है।

शौच (पवित्रता)

अन्तःकरण को राग, द्वेष, ईर्षा, लोभ, कपट, घृणा आदि आत्म-विमुख करने वाले मलिन भावों से शुद्ध रखना तथा इन्द्रियों के व्यवहार शुद्ध रखना अर्थात् आँखों से ऐसे दृश्य न देखना, कानों से ऐसे शब्द न सुनना, जिह्वा से ऐसे पदार्थ न खाना, नासिका से ऐसे पदार्थ न सूँघना, त्वचा से ऐसी वस्तुओं का स्पर्श न करना, जिनसे चित्त की चञ्चलता बढ़े और मन मलिन होकर आत्मिक पतन कराने वाले व्यवहारों में प्रवृत्ति हो; इसी तरह कर्मेन्द्रियों के व्यवहार भी शुद्ध रखना और शरीर को स्नान, मज्जन, स्वच्छ वस्त्र आदि से स्वच्छ रखना—यह सच्चा शौच है। परन्तु अन्तःकरण के तथा इन्द्रियों के व्यवहारों को शुद्ध न रखकर केवल स्थूल शरीर की छुआछात, चौका-चूल्हा, कच्ची-पक्की आदि में ही पवित्रता की इतिश्री समझना और स्पर्शास्पर्श के सङ्कुचित भावों से दूसरों का तिरस्कार तथा घृणा करना—यह शौच (पवित्रता) नहीं किन्तु मलिनता है। वास्तव में यह स्थूल शरीर तो मलों का ख़ज़ाना ही है—केवल ऊपरी छुआछात से यह शुद्ध नहीं हो सकता। जीवात्मा के संयोग से ही यह पवित्र रहता है। जिस क्षण उससे इसका विछोह होता है उसी क्षण से यह छूने योग्य भी

नहीं रहता—अतः एकमात्र आत्मिक उन्नति के सात्विक व्यवहारों से ही यह पवित्र होता है।

अहिंसा

प्राणीमात्र एक ही परमात्मा के अनेक रूप होने के निश्चय से मन, वाणी तथा शरीर से किसी भी जीवधारी को अपनी तरफ़ से शारीरिक एवं मानसिक कष्ट न पहुँचाना; अपने स्वार्थ एवं विनोद के लिए अथवा प्रमादवश किसी के शरीर से प्राणों का विछोह न करना न करवाना तथा किसी की वृत्ति में बाधा न देना—यह सच्ची अहिंसा है। परन्तु किसी को किसी बड़े कष्ट से बचाने के लिए, थोड़ा कष्ट भी न देना तथा किसी बड़ी हिंसा को रोकने के लिए थोड़ी हिंसा न करना अथवा किसी श्रेष्ठ की रक्षा के लिये दुष्ट को दण्ड न देना; यदि कोई दुराचारी अपनी आर्थिक शक्ति से दूसरों पर अत्याचार करता हो तो उसकी आर्थिक वृत्ति न छीनना अथवा उच्च-कोटि के प्राणियों की रक्षा के लिए हीन-कोटि के जीवों को न मारना अथवा लोक-हित के लिए कोई किसी अहितकर प्राणी को दण्ड देता हो तो मिथ्या दया के वश होकर उसको सहन न कर सकना और उसको रोकने का प्रयत्न करना—यह अहिंसा नहीं किन्तु हिंसा है।

अहिंसा के विषय में जन-साधारण में—केवल आधि-भौतिक दृष्टि से ही विचार करने के कारण—बड़ा भ्रम फैला हुआ है और इस अहिंसा तथा दया के दुरुपयोग से प्रतिदिन महान अनर्थ हो रहे हैं। विषैले जन्तु और क्रूर जानवर मनुष्य-समाज तथा उपयोगी पशुओं की हानि करते रहें तो भी उन्हें मारना, अहिंसा धर्म के विरुद्ध समझा जाता है; डाकुओं, दुष्ट-दुराचारी—समाज-द्रोहियों तथा खूनियों को प्राण-दण्ड देकर उनको कुकर्म करने से बचाना तथा उनसे समाज की रक्षा करना और चोरों, पाखण्डियों, कुकर्मियों की वृत्ति छीनने में सहायक होना तथा उनको उचित दण्ड दिलाना भी अहिंसा धर्म के विमुख होना समझा जाता है; इसी तरह दुष्ट-दुराचारियों (ज़ालिमों) से भले मनुष्यों की तथा असहाय-

शरीरों की रक्षा करने के लिए उनको मारना या दण्ड देना भी अहिंसा-धर्म के विरुद्ध समझा जाता है। वास्तव में यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर देखा जाय—तो बिना कसूर तथा बिना उचित कारण के, किसी निरपराध प्राणी का प्राण शरीर से अलग कर देना या उसको कष्ट देना या उसकी वृत्ति छीनना अवश्य ही हिंसा है; परन्तु जिन प्राणियों से दूसरों को कष्ट होता हो या हानि पहुँचती हो तथा जिनसे समाज का तथा स्वयं उनका अहित के सिवाय और कुछ नहीं होता हो—उनको मार डालना अथवा दण्ड देना अथवा उनकी वृत्ति छीनना वस्तुतः अहिंसा है। यह बात अवश्य है कि इस प्रकार की अहिंसा का यथार्थ तत्त्व सूक्ष्मदर्शी, आत्मज्ञानी महान पुरुष ही जान सकते हैं और वे ही उसका उचित निर्णय कर सकते हैं। अतः इसका उपयोग ऐसे महान् पुरुषों की आज्ञा से होना चहिए।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥

—गी॰ अ॰ २-२१

अर्थ—हे अर्जुन! जो यह जानता है कि यह आत्मा अविनाशी, नित्य अज और अव्यय है, वह किसी को कैसे मारे और कैसे मरवावे अर्थात् वह न किसी को मारता है और न किसी को मरवाता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा तो सदा इकसार रहता है; इसमें मरना, घटना, बढ़ना अथवा सुख-दुःख कुछ है नहीं। शेष रहा शरीर से प्राणों का विछोह होना या शरीर का कष्ट पाना, सो जिस तरह शरीर पर के वस्त्र मैले होने पर पछाड़ कर धोए जाते हैं और जीर्ण अथवा अनुपयोगी एवं दुखदायक होने पर उतार दिये जाते हैं, उसी तरह जीवात्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध है, अतः यदि किसी के प्राण-विछोह से या कष्ट पाने से ही उसका तथा औरों का वास्तविक हित होता हो और सूक्ष्मदर्शी तत्त्वज्ञानी ऐसा कर दें तो वह हिंसा नहीं, किन्तु सच्ची अहिंसा है।

ब्रह्मचर्य्य

अपने लिए नियत स्त्री अथवा अपने लिए नियत पुरुष के अतिरिक्त पराई स्त्री अथवा पुरुष के साथ अष्ट प्रकार में से किसी भी प्रकार का सङ्ग—मन, वाणी व कर्म से न करना तथा अपनी स्त्री अथवा अपने पुरुष के साथ भी नियमित रूप से ही सङ्ग करना यानी वीर्य्य का अपव्यय न करना—यह सच्चा ब्रह्मचर्य है। परन्तु हठ करके, अपनी स्त्री या पुरुष से भी योग्यकाल में नियमानुसार सङ्ग न करना और शरीर से विषय न करके मन से उसका चिन्तन करते हुए सदा व्याकुल रहना अथवा ज़बरदस्ती अप्राकृतिक रूप से अपने जोड़े के सहवास से वञ्चित रहना या दूसरों को वञ्चित रखना अथवा दुनिया में सत्कार, मान, पूजा पाने की कामना से गृहस्थ न करके, जन्म भर ब्रह्मचारी ही बने रहने का ढोंग करके लोक-मर्यादा नष्ट करना एवं लोक-संग्रह में बाधक होना—यह ब्रह्मचर्य्य नहीं किन्तु मिथ्याचार है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

—गी० अ० ३-६

अर्थ—जो मूढ़ कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन किया करता है—वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।

देवपूजन

जगत् को धारण करने वाली परमात्मा की समष्टि दैवी शक्तियाँ रूपी देवताओं के साथ अपनी व्यष्टि शक्तियों की एकता करने रूपी देवपूजन करना अर्थात् अपनी सब प्रकार की व्यक्तिगत शक्तियों का समष्टि जगत के लिए उपयोग करना; माता-पिता, स्त्री के लिए पति तथा जिनमें दैवी-सम्पदा के गुण तथा सात्विकता की विशेषता हो, ऐसे प्रत्यक्ष और चेतन देवों की सेवा-शुश्रूषा एवं आदर-सत्कार द्वारा, निस्वार्थ

भाव से पूजा करना—यह सच्चा देव-पूजन है। देव-पूजन भी अपने पृथक् व्यक्तित्व को दूसरों के साथ जोड़ने का साधन है। परन्तु किसी स्थान विशेष पर बैठे हुए किसी रूप विशेष के देवताओं को कल्पित कर, उनसे किसी फल-प्राप्ति के प्रयोजन से अथवा दूसरों को पीड़ा देने एवं हानि पहुँचाने के भाव से, उनपर रजोगुणी-तमोगुणी पदार्थ चढ़ाना तथा उनके निमित्त पशुओं एवं अन्य सामग्रियों की बलि आदि देना अथवा भौतिक पदार्थों—धातु, मृत्तिका, पाषाण आदि—को ही देवता मान कर, उनपर जड़-पदार्थ चढ़ाने की पूजा करना और उन, अपनी कल्पना के माने हुए देवताओं से डर कर या कष्ट में उनसे सहायता पाने अथवा भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए जड़ पदार्थों द्वारा उनका अर्चन करना; इसी तरह प्रत्यक्ष चेतन देव माता-पिता आदिकों की, उनके जीवन-काल में सेवा-शुश्रूषा आदि न करके, उनके मरने के बाद अपनी कीर्ति और मान के लिए श्राद्ध आदि पितृ-कर्म के बड़े-बड़े आडम्बर करना तथा उनकी चिता-समाधि आदि पर बड़े-बड़े मक़बरे बनाकर उनको पूजना और मृतकों की याद करके रहना—यह देवपूजन नहीं, किन्तु प्रेत और भूतपूजन है।

द्विज—ब्राह्मण-पूजन

मन और इन्द्रियों को वश में रखने वाले, अन्दर-बाहिर से पवित्र रहने वाले, तपस्वी अर्थात् गी० अ० १७ श्लोक १४ से १७ तक में वर्णित मन, वाणी और शरीर से सात्विक तप करने वाले, क्षमाशील, सरलस्वभाव वाले, ज्ञानी (आत्म-ज्ञानी), विज्ञानी (सांसारिक पदार्थों तथा व्यवहारों का विशेष ज्ञान रखने वाले और आस्तिक अर्थात् आत्मा=परमात्मा को सर्वव्यापक मान कर साम्य भाव से संसार के व्यवहार करके निरन्तर लोक-हित में लगे रहने वाले ब्राह्मणों का आदर-सत्कार, भरण-पोषण, सेवा-शुश्रूषा आदि करना—यह सच्ची ब्राह्मण-पूजा है। परन्तु उपरोक्त गुणों के बिना ही केवल ब्राह्मण नामधारी के घर में जन्म लेने ही से ब्राह्मण मान कर अन्धविश्वास से उनको खिलाना-पिलाना, सेवा-शुश्रूषा करना तथा

दान देना; उनकी आज्ञा मानना अथवा अपने मरे हुए सम्बन्धियों के पास भोग्य सामग्री पहुँचाने के मिथ्या विश्वास से उनको पदार्थ देना तथा अपने इस लोक और परलोक के फल की इच्छा से उनका पूजन करना—यह ब्राह्मण-पूजन नहीं, किन्तु ब्राह्मणों की अवज्ञा है। जहाँ अपूज्यों की पूजा होती है, वहाँ दुःख, मृत्यु और भय के सिवाय और कुछ नहीं होता।

प्राज्ञ—बुद्धिमानों का पूजन

विशेष बुद्धिमान व्यक्ति—चाहे वे पुरुष हों या स्त्री अथवा वे किसी भी वर्ण या जाति के हों—जिनकी बुद्धि की विचक्षणता से लोगों का हित होता हो, उनका आदर-सत्कार, सेवा-शुश्रूषा करना तथा उनकी आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक होना—यह सच्ची प्राज्ञ-पूजा है। परन्तु जो बुद्धिमान व्यक्ति अपनी विचक्षणता का दुरुपयोग करके लोगों को हानि पहुँचाते हों, या कष्ट देते हों ऐसे बुद्धिमानों का आदर-सत्कार, सेवा-शुश्रूषा करना तथा उनकी आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक होना—यह मिथ्या प्राज्ञ-पूजा है।

सत्संग

श्रेष्ठ आचरणों वाले ज्ञानवान, बुद्धिमान तथा विद्वान व्यक्तियों के तथा जिनमें दैवी-सम्पद् की अधिकता हो, ऐसे सात्विक व्यवहार करने वाले सज्जनों के साथ रहना; ऐसे सज्जनों के समाज में तथा सम्मेलनों में समय-समय पर सम्मिलित होना; जहाँ आत्मा = परमात्मा के सच्चे ज्ञान, सद्विद्याओं तथा सात्विक व्यवहारों की कथा या उपदेश होते हों वहाँ जाना और उन उपदेशों को धारण करके उनके अनुसार व्यवहार करने का प्रयत्न करना—यहसच्चा सत्सङ्ग है। परन्तु लोगों में सत्सङ्गी कहलाकर सत्कार, मान, पूजा प्राप्त करने तथा इसके द्वारा लोगों को ठगने अथवा और किसी प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि करने के दम्भयुक्त भावों से उपरोक्त श्रेष्ठ पुरुषों के साथ रहना अथवा ऐसे सज्जनों की सभा, समाज, सम्मेलनों

तथा कथा-उपदेशों में जाना और वहाँ जाकर कोई सद्गुण धारण न करके, केवल वाद-विवाद करना अथवा उनमें छिद्र ढूँढने का प्रयत्न करना—यह सत्संग नहीं, किन्तु दम्भ है।

स्वाध्याय

ज्ञान-वृद्धि तथा बुद्धि तीक्ष्ण करने के लिए वेद-शास्त्रों तथा अन्य प्राचीन एवं नवीन अनेक प्रकार की विद्याओं तथा भाषाओं का पठन-पाठन करके उनका लोकहित के लिए उपयोग एवं प्रचार करना—यह सच्चा स्वाध्याय है। परन्तु केवल ग्रन्थों को रट कर कण्ठ कर लेना अथवा अनेक ग्रन्थ पढ़ते ही जाना और बुद्धि से उसका कुछ भी उपयोग न करना अर्थात् बुद्धि को ग्रन्थों के गिरवी रख कर केवल शास्त्रों के कीड़े बन जाना अथवा शास्त्रों की केवल प्रक्रियाओं को याद करके वाद-विवाद करना; पढ़ी हुई विद्या के वास्तविक तत्त्व की तरफ बुद्धि को न लगा कर उनके सूखे कलेवर ही का अध्ययन करके बहुत शास्त्रों के ज्ञाता—पण्डित होने का अभिमान करना—यह स्वाध्याय नहीं किन्तु मूर्खता है।

जप और ध्यान

समष्टि-आत्मा = परमात्मा में जुड़ने के लिए उसके अविनाशी, सर्व-व्यापक, सर्वान्तर्यामी, सदा एकरस रहने वाले, अनादि, अनन्त, नित्य, निर्मल, अद्वितीय भाव का तथा सत्-चित्-आनन्द स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना; उस स्वरूप के द्योतक "ॐ" एकाक्षर मन्त्र का उच्चारण करते रहना और परमात्मा के इस स्वरूप में मन को निरन्तर जोड़ना; यदि ऐसे स्वरूप के चिन्तन आदि में पहिले मन न लग सके तो प्रारम्भिक अवस्था में इस स्वरूप पर लक्ष्य रखते हुए उसके द्योतक किसी नाम का चिन्तन और उच्चारण करना तथा उस स्वरूप के द्योतक किसी रूप पर ध्यान लगाना—यह सच्चा जप और ध्यान है। परन्तु परमात्मा के उपरोक्त भाव तथा स्वरूप पर लक्ष्य रक्खे बिना केवल किसी नाम के जप की माला फेरते रहने में तथा किसी भौतिक रूप पर मन को लगाए रखने में समय

और शक्ति का अपव्यय करना—यह मिथ्या जप और ध्यान है। नाम और रूप चाहे कितने ही सुन्दर और उच्चकोटि के क्यों न प्रतीत हों, वस्तुतः वे कल्पित माया के खेल ही हैं। इनका जप और ध्यान प्रारम्भिक अवस्था में केवल मन को एकाग्र करने की आदत डालने मात्र के लिए करना ठीक है; पीछे इनको छोड़ कर समष्टि-आत्मा-परमात्मा के उपरोक्त सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थिति करनी चाहिए और नाम तथा रूप से छुटकारा पाए बिना उस स्वरूप में स्थिति हो नहीं सकती—अतः नाम और रूप को ही सब कुछ मान कर सर्वदा उन्हीं में निमग्न रहना—मनुष्य-देह के अमूल्य समय को निरर्थक गंवाना है।

परोपकार—लोकहित

आधिभौतिक और और आधिदैविक विषमता के कारण ही प्राणियों को अनेक प्रकार के क्लेश होते हैं और वे समता के उपचार से शान्त होते हैं। जिस तरह वात, पित्त, कफ आदि दोषों की विषमता से शरीर में जो भूख-प्यास तथा नाना भाँति के रोगादि होते हैं, वे उन विषम दोषों को सम करने की चिकित्सा से शान्त होते हैं तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि महाभूतों की विषमता से अनावृष्टि, अतिवृष्टि, बाढ़, महामारी, दावानल, भूकम्प आदि भौतिक उपद्रवों से लोगों को जो अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं, वे भौतिक समता के उपचार से शान्त होते हैं; और भेद-बुद्धि-जन्य मानसिक विषमता से राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, भय आदि विकार उत्पन्न होकर उनसे जो अनेक प्रकार के मानसिक क्लेश होते हैं, वे सर्व-भूतात्मैक्य ज्ञान के उपदेशादि से मन को साम्यभाव में स्थित करने अर्थात् शम से शान्त होते हैं। इस तरह समता के उपचार से लोगों के आधिभौतिक और आधिदैविक क्लेश मिटाना—सच्चा परोपकार अथवा लोकहित है। परन्तु इसके विपरीत परोपकार या लोकहित के नाम से लोगों में उल्टी विषमता उत्पन्न करने वाले उपचार करना—जिस तरह जिनकी सादगी से रहने की आदत हो अर्थात् जो मोटा खाते, मोटा पहनते और सब

शारीरिक विषयादिकों में संयम रखते हों तथा जिनकी आवश्यकताएँ इतनी कम हों कि उनकी पूर्ति के लिए उन्हें परावलम्बी न बनना पड़े, उनके लिए राजसी भोग्य-पदार्थ सुलभ करने द्वारा भोग-विलास में उनकी प्रीति उत्पन्न करके उनको विषयी एवं अल्पाश बनाने की विषमता उत्पन्न करना और उन भोग्य-पदार्थों की प्राप्ति के लिए परावलम्बी बनाना अथवा एक तरफ तो लोगों को अपनी-अपनी प्रकृति के विरुद्ध आहार-विहारों में प्रवृत्त करके शारीरिक विषमता उत्पन्न कर, रोगी बनाना और दूसरी तरफ उनकी चिकित्सा आदि के बड़े बड़े आयोजन करके, लोगों को उन पर निर्भर रख कर, पूरे परावलम्बी और उद्यमहीन बनाना; इसी तरह मानसिक विकार मिटाने के नाम पर भेद-प्रतिपादक शास्त्रों के व्याख्यान एवं उपदेश देकर उल्टी मानसिक विषमता बढ़ाना—यह परोपकार या लोकहित नहीं, किन्तु पर-पीड़न और लोगों का महान् अनिष्ट करना है।

अस्तेय (चोरी न करना)

अपने स्वार्थ तथा भोग के लिए दूसरों के भोग्य पदार्थ—चाहे वे सचेतन हों या जड़—हरण करने की इच्छा भी न करना; बिना हक़ के कोई पदार्थ न लेना अर्थात् अपने परिश्रम द्वारा उपार्जन किए हुए पदार्थों पर ही अपना स्वत्व समझना; दूसरों के परिश्रम से उपार्जन किये हुए पदार्थों के पाने की आशा रखकर आलसी और निरुद्यमी न हो जाना; अकेले ही भोग्य-पदार्थों का इस तरह संग्रह न करना कि दूसरे उनके उपयोग से वञ्चित रह जायँ ; अपनी आवश्यकताओं को इतनी अधिक न बढ़ाना कि उनमें धनादि पदार्थों का इतना अनुचित खर्च हो कि दूसरों से धन छीनने का प्रयत्न करना पड़े तथा दूसरों की वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी होने में बाधा पड़े तथा सट्टे, फाटके, जुए जैसे धन्धे न करना कि जिनसे कुछ भी लोक-सेवा हुए बिना ही द्रव्य प्राप्त होने के भाव रहें—यह सच्चा अस्तेय है। परन्तु पूर्व कर्मों के फल से पैतृक सम्पत्ति आदि बिना परिश्रम किए तथा बिना दूसरों के हक़ छीने,

प्राप्त होने वाली सम्पत्ति को त्याज्य मान कर छोड़ बैठना अथवा अपने कर्त्तव्य-कर्म यथावत् करने पर उसके पुरस्कार में जो द्रव्यादि तथा भोग्य पदार्थों की प्राप्ति हो उसको यह समझ कर छोड़ देना कि ये पदार्थ किसी दूसरे के परिश्रम से उत्पन्न हुए हैं, इन पर मेरा हक़ नहीं है—यह मिथ्या अस्तेय है।

तेज

किसी से दब कर आत्मा के विरुद्ध, कोई अनुचित काम न करना तथा अपने कर्तव्य को न छोड़ना; जो अपने मातहत हों उनसे उनके कर्त्तव्य-कर्म समुचित रूप से करवाने तथा पत्नी, सन्तान, शिष्य, प्रजा आदि जो अपने संरक्षण में हों उनको विपरीत आचरणों से रोकने के निमित्त उन पर उचित प्रभाव रखना—सच्चा तेज है। परन्तु अपने रोब के अभिमान में दूसरों को अनुचित रूप से दबाना—यह तेज नहीं, अत्याचार है।

कार्य-कुशलता

जो अपने कर्तव्य-कर्म और पेशे हों उनके ज्ञान, विज्ञान तथा क्रिया की पूरी जानकारी रख कर अपने-अपने कार्य करने में सब प्रकार से प्रवीण होना—यह सच्ची दक्षता या कार्य-कुशलता है। परन्तु प्रमाद के विषयों में—जिनसे अपने कर्तव्य में हानि पहुँचती हो—कुशलता रखना तथा अपने कर्तव्यों पर ध्यान न देकर दूसरों के कर्त्तव्यों में कुशलता प्राप्त करने में लगे रहना—यह दक्षता या कार्य-कुशलता नहीं, किन्तु चपलता है।

लज्जा-ग्लानि

अपने कर्त्तव्य के विरुद्ध अनुचित और बुरे काम करने में लज्जा या ग्लानि होना—सच्ची लज्जा या ग्लानि है। परन्तु अपने कर्त्तव्यों के पालन करने में तथा सात्विक (लोकहित के) व्यवहारों में अज्ञ लोगों की टीका के भय से त्रुटि करना अथवा अपने कर्त्तव्य-कर्मों को नीचे दर्जे का अथवा हीन-कोटि का समझ कर उनसे ग्लानि करके उपेक्षा करना— यह लज्जा या ग्लानि नहीं; किन्तु कर्त्तव्य-विमुखता है।

तितिक्षा—सहनशीलता

किसी कारण से शरीर में गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास, रोग, आघात आदि किसी प्रकार की पीड़ा उपस्थित हो जाय तो उसको शान्तिपूर्वक सहन करना; मन में क्षोभ न करना तथा शरीर को इस तरह के कष्ट सहने योग्य बनाना—सच्ची तितिक्षा है। परन्तु मूर्खता से हठ करके शरीर को पीड़ा देते रहना, शीत, ताप, भूख, प्यास आदि से शरीर को कष्ट देना—तितिक्षा नहीं किन्तु दुराग्रह है।

राजसी-तामसी व्यवहार

काम (इच्छा)

दूसरों के हित और स्वार्थ पर दुर्लक्ष्य करके तथा उनमें बाधा देकर केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की इच्छा रखना; केवल अपने शरीर तथा उनके सम्बन्धियों के लिए ही आधिभौतिक विषय-सुखों तथा मान-कीर्ति आदि की निरन्तर अभिलाषा करते रहना और इन विषय-सुखों के लिए अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की लालसा रखना तथा कर्तव्याकर्तव्य, उचित-अनुचित का कुछ भी विचार न करके सदा कामोपभोग में ही आसक्त रहना—यह काम का राजस-तामस स्वरूप है। इस तरह के व्यक्तिगत स्वार्थ की कामना से दूसरों से भिन्न अपने व्यक्तित्व के द्वैत भाव की दृढ़ता होती है और सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव प्राप्त होने में यह काम ही सब से अधिक बाधक है। सब सुखों का भण्डार तो स्वयं अपना आप अर्थात् आत्मा है; इसीके प्रतिबिम्ब से विषयादिकों में सुखों का क्षणिक आभास प्रतीत होता है। अतः आत्मा से भिन्न नाशवान् भौतिक पदार्थों में सुख मान कर उनकी कामना करते रहने से पतन होता है। परन्तु इन व्यक्तिगत स्वार्थों और विषय-भोगों की अभिलाषाओं से ऊँचे उठने की सदिच्छा रखना; सर्वात्म-साम्य भाव में स्थित होने की अभिलाषा करना; समष्टि-आत्मा-परमात्मा के साथ अपनी एकता के अनुभव करने की

लालसा रखना तथा किसी भी प्राणी को हानि पहुँचाए बिना तथा किसी का अहित किये बिना—सबके साथ एकता का प्रेम भाव रखते हुए—लोक-संग्रह के लिए, मर्यादानुसार जो कामोपभोग, बिना अधिक प्रयास के प्राप्त हो जायँ उनको अनासक्त बुद्धि से, चित्त की शान्ति भङ्ग किए बिना भोग—यह सात्विक काम है। जगत का व्यवहार यथावत चलाने के लिए काम की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

गी० अ० ७-११

अर्थ—हे भरतश्रेष्ठ ! धर्म के विरुद्ध न जाने वाला भूत प्राणियों में काम भी मैं हूँ अर्थात् जिस काम से भूत प्राणियों का अहित न होता हो वह—लोक-संग्रह के विरुद्ध न जाने वाला—काम भी परमात्मा की जगत् को धारण करने वाली एक विभूति है।

क्रोध

अपनेको किसी से हानि या दुःख पहुँचने या किसी से अपने स्वार्थ और सुख में बाधा लगने या किसी से अपना अपमान होने आदि के अनुमान से अथवा अपने मन के अनुकूल कोई कार्य न होने से क्रोध का आवेश उत्पन्न कर चित्त को क्षुब्ध करना और अनेकता की विषम-बुद्धि से उस हानि या दुःख पहुँचाने वाले को बदले में दुःख या हानि पहुँचाने में प्रवृत्त होना—यह क्रोध का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु क्रोध को अपने अधीन करके मूर्ख, अज्ञानियों तथा कुमार्ग-गामियों को सुधारने और अपने अधीन व्यक्तियों को कर्त्तव्य-विमुख होने से बचाने के लिए उचित मात्रा में उसका उपयोग करना; अज्ञानी तथा बालक किसी हानिकर व्यवहार का दुराग्रह करे तो उनको क्रोध दिखा कर डाँट देना और किसी दुराचारी का दुराचार छुड़ाने के लिए क्रोध के उपयोग से उसको धमका देना—यह सात्विक क्रोध है

ऐसे अवसरों पर क्रोध के उपयोग से कोई अनर्थ नहीं होता, किन्तु

क्रोध करना आवश्यक हो जाता है। उसके न करने से अनर्थ और लोगों का अहित होता है—क्योंकि रजोगुणी-तमोगुणी लोग उनकी प्रकृति के अनुकूल क्रिया से ही सुधरते हैं। अतः उनके तथा दूसरों के हित के लिए प्रेम-भाव से ऐसे अवसरों पर उन पर क्रोध करना चाहिए। जैसे अपनी सन्तान को कुमार्ग से बचाने के लिए उसके हित की दृष्टि से क्रोध किया जाता है, वास्तव में वह क्रोध नहीं, प्रेम होता है; उसी तरह दूसरों को सुधारने के लिए एकता के भाव से उनको ताड़ना देनी चाहिए; परन्तु ऐसा करने में क्रोध से अपने मन को तपाना नहीं चाहिए और न उसके वश में होकर क्रोध करने की आदत ही डालनी चाहिए।

लोभ-तृष्णा-कृपणता

सांसारिक पदार्थों में—आत्मा से भिन्न—सुख समझ कर, अपने-अपने व्यक्तिगत भोग-विलास के लिए, उनका संग्रह करने में सन्तोष न करना, किन्तु आवश्यकता से भी अधिक पदार्थों का येन-केन प्रकार से संग्रह करने में तन-मन से लगे रहना और संग्रह किये हुए पदार्थों का अपने तथा दूसरों के हित के लिए एवं आवश्यक कामों में त्याग न करना-यह लोभ, तृष्णा, कृपणता का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु आत्म-ज्ञान-प्राप्ति की तृष्णा करना; संसार से प्रेम, सबकी भलाई और अपना कर्तव्य पालन करने में सन्तोष न करना तथा लोकहित के कामों में उपयोग करने के लिए पदार्थों का संग्रह करना और अनावश्यक एवं अयोग्य व्यवहारों में उनका व्यय न करना—यह लोभादि का सात्विक स्वरूप है।

शोक—चिन्ता—पश्चात्ताप

गए हुए तथा अप्राप्त सांसारिक धनादि पदार्थों, कटुम्बियों, सम्बन्धियों, मित्रों तथा विषय-सुखों का चिन्तन करके उनके लिए शोक करना तथा उपस्थित पदार्थों के रक्षण आदि के लिए उचित उपाय न करके केवल उनकी चिन्ता ही करते रहना तथा उनके बिछुड़ने पर या हानि होने पर

अपनी मूर्खता असावधानी आदि कारणों के लिए पश्चात्ताप करते रहना और उस शोक, चिन्ता पश्चाताप आदि में डूब कर अपने कर्त्तव्य-कर्मों को भूल जाना अथवा उनमें त्रुटि करना—शोक, चिन्ता, पश्चात्ताप का राजस-तामस-स्वरूप है। परन्तु अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए सदा सावधान और चिन्तित रह कर प्रयत्न करते रहना; अपने भीतर आत्म-विमुख करने वाले रजोगुणी-तमोगुणी भावों से होने वाले अनर्थों का चिन्तन करके उनको सुधारने में यत्नशील रहना तथा अपने किए हुए अनर्थों, असावधानियों तथा त्रुटियों का पश्चात्ताप करके न करने के लिए सावधान रहना—यह सब शोकादि का सात्विक स्वरूप है।

मोह-ममता

सांसारिक पदार्थों ही को सत्य मान कर, उनमें ममता बढ़ा कर उनके लिए अपने असली आप=आत्मा को भूल जाना शरीर तथा उसके सम्बन्धियों के मोह में फँस कर अनर्थ करना तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सात्विकी बुद्धि से निर्णय न करके अन्धविश्वास में पड़ कर अपने कर्त्तव्यों को भूल जाना—यह मोह-ममता का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु अपने कर्त्तव्य के अनुसार जिन सांसारिक सम्बन्धियों, पदार्थों या व्यवहारों का भार अपने ऊपर हो अथवा जो व्यवहार स्वयम् स्वीकार किए हों उन—अपनी ज़िम्मेदारी में आये हुए—सम्बन्धियों एवं पदार्थों के प्रति अपना कर्त्तव्य स्नेहपूर्वक अच्छी तरह पालन करना और अपने आश्रितों का प्रेम-पूर्वक भरण-पोषण, रक्षण-शिक्षण करना; उनके दुःखों में स्नेहपूर्वक सहायता करना तथा उनके हित के लिए उद्योग करना—यह मोह-ममता का सात्विक स्वरूप है।

भय

लोगों को अपनी विद्या, बुद्धि, बल, तप, धन, सत्ता और सामर्थ्य का भय दिखाकर दबाना तथा दुःख देना; मिथ्या बातों का भय बताकर लोगों को भुलाना, ठगना तथा मिथ्या ज्ञान की शिक्षा से लोगों को अज्ञान में

रख कर अपने अधीन रखना; अपने कर्त्तव्य पालन करने में तथा सात्विक व्यवहारों और कल्याण के प्रयत्न में रजोगुणी तमोगुणी प्रकृति के पुरुषों की निन्दादि का भय करना तथा कल्पित देवी-देवता भूत-प्रेत आदि से न डरना न डराना—यह भय का राजस-तामस स्वरूप है। जो दूसरों को भय देते हैं वे स्वयं भयभीत रहते हैं, क्योंकि आत्मा सब में एक है। परन्तु बुरे कर्मों के करने में सबके आत्मा-परमात्मा का भय करना तथा अपने से अधिक ज्ञानी, बुद्धिमान्, बलवान्, धनवान्, सत्तावान् आदि विशेष विभूति-सम्पन्न व्यक्तियों का भय करके बिना समुचित कारण के उनका सामना न करना—भय का सात्विक स्वरूप है।

राग—प्रीति—आसक्ति

भौतिक पदार्थों में अति प्रीति करके मन को निरन्तर उनमें उलझाए रखना और धन, कुटुम्ब आदि में आसक्त होकर अपने कर्त्तव्यों में त्रुटि करना तथा अपने असली कर्त्तव्य-सर्वभूतात्मैक्य से विमुख रहना—राग का राजस-तामस स्वरूप है। भेद-बुद्धि से विशेष पदार्थों में राग करने से उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरे पदार्थों में द्वेष स्वतः उत्पन्न हो जाता है। परन्तु आत्मज्ञान तथा उसके साधन सात्विक व्यवहारों में राग और एक आत्मा में आसक्ति रखना—राग का सात्विक स्वरूप है।

द्वेष

अपनी प्रकृति के प्रतिकूल होनेवाले पदार्थों से तथा अपने से प्रतिकूल दीखने वाले व्यक्तियों के साथ अथवा बिना कारण ही किसी को अपने से भिन्न (बेगाना) मान कर उनसे द्वेष करके उनको हानि पहुँचाने या उनका अनिष्ट करने व गिराने का भाव रखना—यह द्वेष का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु दूसरों से द्वेष उत्पन्न कराने वाले अनेकता के भेद-भाव

को मिटाने के लिए उसका द्वेष करना अर्थात् द्वेष का वस्तुतः द्वेष नहीं किन्तु प्रेम-रूप हो जाता है, अतः यह द्वेष का सात्विक स्वरूप है।

घृणा—तिरस्कार

किसी को अपने से हीन, तुच्छ-मलीन, अपवित्र, अधर्मी, पतित या दुराचारी समझ कर उससे घृणा करके उसका तिरस्कार करना और उसे दुःख देने में प्रवृत्त होना—यह घृणा-तिरस्कार का राजस तामस स्वरूप है जो दूसरों से घृणा-तिरस्कार करते हैं, वे स्वयं तिरस्कृत होते हैं; क्योंकि सब एक ही आत्मा के अनेक अङ्ग हैं। परन्तु अपने तथा दूसरों के भीतर के रजोगुणी-तमोगुणी आसुरी भावों को हटाने के लिए उन भावों का तिरस्कार करना—यह घृणा का सात्विक स्वरूप है।

ईर्षा

किसी के वैभव, सुख, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, मान, कीर्ति, गुण, विद्या, बुद्धि, बल, ऐश्वर्य आदि को देख कर जलना और उस जलन से उसको हानि पहुँचाने या नीचा दिखाने का प्रयत्न करना—यह ईर्षा का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु श्रेष्ठ पुरुषों के सद्गुण तथा सात्विक आचरण देख कर चित्त में जलन उत्पन्न किए बिना उनका अनुकरण करके सदृश बनने की स्पर्धा करना—ईर्षा का सात्विक स्वरूप है।

मान—अहङ्कार

अपनी जाति, मर्यादा, प्रतिष्ठा, धन, पद, सत्ता, ऐश्वर्य, बल, विद्या, बुद्धि, ज्ञान, रूप, यौवन आदि भौतिक शरीर की उपाधियों का घमंड करना; स्वयं अपने को श्रेष्ठ, धनी और कुलीन समझ कर दूसरों को तुच्छ और नीच समझना और अपने कृत्यों की प्रशंसा में फूले रहना—यह मान-अहङ्कार का राजस-तामस स्वरूप है। दूसरों को तुच्छ जानने वाला अभिमानी स्वयं तुच्छ होता है, क्योंकि क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। परन्तु तुच्छ सांसारिक सुखों के लिए रजोगुणी-तमोगुणी पुरुषों के

सामने दीनता न करने का आत्म-गौरव रखना; स्वावलम्बी होना तथा अपनी परिस्थिति में मस्त रहना; किसी से डर कर या दब कर अपने कर्त्तव्य-कर्म से न हटना—यह मान का सात्त्विक स्वरूप है और अपने को पञ्चभौतिक शरीर के अन्दर रहने वाला उसका आधार-भूत शुद्ध आत्मा समझना सात्त्विक अहंकार है।

दम्भ—पाखण्ड

छल-कपट कर लोगों को धोखा देना; पाखण्ड और अशुद्ध व्यवहार से किसी को ठगना; अन्दर से एक बात और ऊपर से दूसरी बात कर वञ्चना करना अथवा भुलावा देना—यह दम्भ का राजस-तामस स्वरूप है। दूसरों को ठगने वाला स्वयं ठगा जाता है—अपने भावों का फल आप ही को प्राप्त होता है। परन्तु दुष्ट, दुराचारियों से अपनी तथा अपनी रक्षा में आए हुओं की रक्षा करने के लिए दुष्टों से छल का व्यवहार करना आवश्यक तथा न्यायसङ्गत होता है।

द्यूतं छलयतामस्मि।

—गी० अ० १०-३६

अर्थ—छलियों में जुआ मैं हूँ; अर्थात् छल करने वालों को छल से ही जीतने के लिए सब से बड़ा छल जुआ भी मैं परमेश्वर ही हूँ।

यह छल किसी को हानि पहुँचाने की नियत से, द्वेषभाव से नहीं किया जाता, किन्तु लोगों के तथा स्वयं छल करने वालों के हित के लिए प्रेम भाव से किया जाता है। कभी-कभी मूर्खों, बालकों और पशुओं को हानि से बचाने के लिए भी छल करना पड़ता है, जैसे कि बालक को औषधि देने के लिए मिश्री दिखाना—यह छल का सात्त्विक स्वरूप है।

हिंसा—दण्ड

मन-वाणी तथा शरीर से उचित कारण के बिना किसी को किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाना अथवा किसी की वृत्ति में बाधा देना—हिंसा

का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु परिणाम के बड़े सुख या बड़े लाभ पहुँचाने के भाव से अथवा बड़ी हिंसा रोकने के लिए एक बार थोड़ी देर के लिए किसी को कष्ट दिया जाय या थोड़ी हिंसा की जाय तो वह हिंसा नहीं, दया है। जिस तरह फोड़ा मिटाने के लिए चिरा देने की पीड़ा करना भयानक रोग से बचाने के लिए टीका देना; अजीर्ण के बीमार का भोजन छीन लेना इत्यादि। इसी तरह कभी ऐसे अवसर आते हैं कि उच्चकोटि के जीवों की रक्षा के लिए हीनकोटि के जीवों को मारना आवश्यक हो जाता है। जैसे कि सिंह या पागल कुत्ते आदि से मनुष्यों के प्राण बचाने के लिए उनको मारना; कोई हत्यारा भले आदमियों की हत्या करने को उद्यत हो और अन्य उपायों से निवृत्त न हो तो उन भले आदमियों की प्राण-रक्षा के लिए हत्यारे को मार देना अथवा किसी हत्यारे को प्राण-दण्ड देकर अनेक हत्याएँ बचाना—यह हिंसा का सात्विक स्वरूप है।

> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
>
> गी० अ० ४-८

अर्थ—भले आदमियों की रक्षा तथा दुराचारियों के विनाश के हेतु तथा धर्म की स्थापना के लिए मैं युग-युग में अवतार लेता हूँ।

इसी तरह चोर, डाकू, अन्यायी, आततायी, दुराचारी को उचित दण्ड देना भी हिंसा नहीं, किन्तु अहिंसा है।

> दण्डोदमयतास्मि।
>
> —गी० अ० १०-३८

अर्थ—शासन करने वालों का दण्ड मैं हूँ अर्थात् दुष्ट प्रकृति के लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिए, "दण्ड" भी समष्टि-आत्मा-परमात्मा की (जगत को धारण करने वाली) एक विभूति है।

संशय

परमात्मा यानी अपने असली स्वरूप के सत्शास्त्रोक्त सत्य ज्ञान में, अपने कर्त्तव्य-कर्म करने में तथा अपने निश्चय में संशय या शङ्का करते रहना; किसी भी विषय में निश्चयात्मक न हो कर संकल्प-विकल्प करते रहना—संशय का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु बिना जाँच किए हुए व्यक्तियों के वाक्यों, आचरणों तथा व्यवहारों की सत्यता के विषय में शङ्का करके उनकी अच्छी तरह जाँच करने के बाद निर्णय करना तथा अपनी बुद्धि के उपयोग बिना किसी विषय में निश्चयात्मक न होना—संशय नहीं, किन्तु सावधानी है।

हठ—दुराग्रह

किसी बात अथवा क्रिया को मूढ़ता से पकड़ कर नहीं छोड़ना, उससे अपनेको तथा दूसरों को दुःख अथवा पीड़ा होती हो अथवा अपनी तथा दूसरों की हानि होती हो तो भी उसे कट्टरता से पकड़े रहना; पतन होने वाले व्यवहारों में अन्ध-विश्वास रखकर उन्हें किए ही जाना; देश, काल और परिस्थिति की आवश्यकतानुसार विचारों तथा व्यवहारों में परिवर्तन न करना; किसी विषय के विचार में युक्ति और न्याय की अवहेलना कर कोरा ज़िद किए जाना तथा भय, शोक और मद के भावों में अन्ध-श्रद्धा करके उन पर अत्यन्त आग्रह करना—यह हठ अथवा दुराग्रह का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु सबके साथ एकता के भाव से अपने कर्त्तव्य-कर्म करने में दृढ़ रहना; अच्छी तरह युक्ति और विचारपूर्वक जो सिद्धान्त स्थिर किये हों उनके विषय में संशय रहित रहना—उनसे विचलित न होना तथा जो काम अच्छी तरह सोच-विचार कर करना स्वीकार किया हो, उसे यथाशक्य पूरा करने के लिए जी-जान से प्रयत्न करना—यह हठ और दुराग्रह नहीं, किन्तु सात्विक दृढ़ निश्चय है।

चतुर्थ प्रकरण

चतुर्थ प्रकरण

उपसंहार

इस ग्रन्थ में परतन्त्रता अर्थात् बन्धन से स्वतन्त्रता यानी मुक्ति पाने के उपाय का निरूपण किया गया है और वह उपाय, ग्रन्थ के मुख पृष्ठ पर ही "दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता" (दैवी सम्पद् से मोक्ष और आसुरी से बन्धन होता है) का मूल मन्त्र देकर वहीं बता दिया गया है; फिर सारे ग्रन्थ में उसीकी व्याख्या की गई है। जगत की अनन्त प्रकार की अनेकता (नानात्व) को सच्ची मान कर, राग-द्वेष के भावयुक्त संसार के व्यवहार करना="आसुरी सम्पद्"—और उक्त नानात्व को झूठा—माया का खेल—जान कर उसके एकत्व भाव को सच्चा जानना और उस सच्चे ज्ञान के आधार पर सबके साथ प्रेम* का व्यवहार करना="दैवी सम्पद्"—श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकों से प्रमाणित किया गया है।

यह भी कहा गया है कि केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं, किन्तु आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टि से भी जगत की एकता सच्ची और अनेकता झूठी है। पुस्तक के प्रथम तीन प्रकरणों में उक्त विषय की विस्तृत व्याख्या करके अब उपसंहार में उसका निष्कर्ष दिया जाता है।

यह नाना भाँति का स्थूल (भौतिक) जगत जो प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर हो रहा है अर्थात् जो आँखों से दीखता है, कानों से सुना जाता है, नाक से सूँघा जाता है, जिह्वा से चक्खा जाता है, त्वचा से स्पर्श किया

---

* प्रेम का खुलासा पीछे तृतीय प्रकरण में देखिए।

जाता है—वह सब, उन्हीं पञ्चतत्त्वों (अथवा जो अन्य दार्शनिक एवं वैज्ञानिक लोग पाँच से अधिक तत्त्व मानते हैं, उनके मतानुसार उतने तत्त्वों) के सम्मिश्रण का अनन्त प्रकार का बनाव है; अर्थात् जिन पञ्चतत्त्वों का, एक राजा, महाराजा, विद्वान्, आचार्य, ज्ञानी, महात्मा का शरीर होता है, उन्हीं का एक छोटे-से-छोटे व्यक्ति, अछूत, चाण्डाल और पशु-पक्षी, वनस्पति आदि का शरीर होता है। स्थावर-जङ्गम जितनी सृष्टि है वह सब उन्हीं पञ्चतत्त्वों के सम्मिश्रण का बनाव है और सभी एक दूसरे के उपकारी, उपकार्य हैं तथा एक दूसरे पर निर्भर (अन्योन्याश्रित) हैं। इसलिए भौतिक (स्थूल) जगत की एकता सच्ची है और इसमें जो अनन्त प्रकार की भिन्नता का बनाव दीखता है, उसका प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है—कोई भी वस्तु सदा एक-सी नहीं रहती—इसलिए वह असत् है। किसी भी प्राणी का शरीर लीजिए—गर्भाधान से लेकर ज्यों-ज्यों वह बढ़ता है, उसकी अवस्था प्रतिक्षण बदलती रहती है। गर्भ में अनन्त प्रकार के रूप बदलता हुआ, विशेष अवधि में पूरा शरीर बन कर गर्भ से बाहर आता है और बाहर भी वही परिवर्तन की क्रिया निरन्तर जारी रहती है। कितने ही परमाणु प्रतिक्षण शरीर में से निकलते और कितने ही प्रवेश करते रहते हैं। शनैः-शनैः बाल्यावस्था से युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और फिर वृद्धावस्था हो जाती है। इन अवस्थाओं का परिवर्तन किसी विशेष समय में ही एकदम नहीं होता, किन्तु प्रतिक्षण निरन्तर होता रहता है और घटा-बढ़ी की क्रिया निरन्तर जारी रहती है। शरीर का विनाश, यद्यपि किसी विशेष समय में एकदम होता प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वह भी पहले निरन्तर होता रहता है और मरने के समय, उस एकत्र परिवर्तन की प्रतीति एक साथ होती है। इसी तरह स्थावर पदार्थों का भी प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। वनस्पति (वृक्ष-लता आदि) किसी विशेष समय में एकदम नहीं उगते और न एकदम सूखते ही हैं, किन्तु उनके बढ़ने-घटने की क्रिया प्रतिक्षण निरन्तर

जारी रहती है। खनिज पदार्थ—हीरा, पन्ना, माणिक, मोती, सोना, चाँदी, पत्थर, मट्टी आदि—भी निरन्तर परिवर्तन की क्रिया में से गुज़रते हुए अपने अपने प्रकृत रूप में आते हैं और फिर भी उनका परिवर्तन एवं वृद्धि, ह्रास जारी रहता है। काल (समय) का भी निरन्तर परिवर्तन होता है। सूर्य्योदय से लेकर सूर्य्यास्त तक तथा शाम से लेकर सुबह तक, समय निरन्तर बदलता रहता है। इसी तरह ऋतु भी प्रतिक्षण बदलती रहती है। सुबहके सुहावने शीतल समय को हटा कर उसके स्थान में दुपहर का कड़ा धूप एकदम नहीं आ जाता और दिन के प्रकाश को हटा कर रात्रि का अन्धकार भी हठात् पृथ्वी-मण्डल को आच्छादित नहीं कर लेता, न जाड़े की सर्दी सहसा ग्रीष्म में परिणत होती है, किन्तु सभी परिवर्तन प्रतिक्षण निरन्तर होता रहता है। इसी तरह वस्तु और काल के साथ-साथ देश का भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इसके अतिरिक्त देश-काल और वस्तु यानी संसार का कोई भी पदार्थ सबको सदा एक-सा प्रतीत भी नहीं होता। किसी को कोई वस्तु किसी अवस्था में एक प्रकार की प्रतीत होती है, दूसरी अवस्था में तथा दूसरे व्यक्ति को वही वस्तु दूसरी तरह भान होती है; किसी को कोई वस्तु किसी अवस्था में अनुकूल प्रतीत होती है, दूसरी अवस्था में अथवा दूसरे व्यक्ति को वही प्रतिकूल प्रतीत होती है। दिनचरों को सूर्य्य प्रकाश-रूप दीखता है—निशाचरों को अन्धकार रूप; सूखे में वृष्टि सुहावनी लगती है—अति-वृष्टि के समय वर्षा भयानक प्रतीत होती है; भारतवर्ष में ग्रीष्म-ऋतु में सूर्य्य का तेज असह्य होता है—विलायत में सूर्य्य के दर्शन को लोग तरसते हैं; प्यास से मरते हुए को जल जीवनदाता है—जलोदर के रोगी तथा डूबने वाले का प्राण हरता है; सुख-शान्ति के समय जो देश प्रिय लगता है—अशान्ति और विपत्ति के समय उसको छोड़ भागना हितकर प्रतीत होता है; सुख का दीर्घ-काल भी बहुत अल्प मालूम देता है—दुख का एक क्षण भी वर्ष के बराबर भान होता है; धन-धान्य आदि

का संग्रह एवं सत्ता तथा मान-प्रतिष्ठा शान्ति के समय एवं योग्य व्यक्तियों के पास हो तो सुखदायक होते हैं—विप्लव के समय अथवा अयोग्य व्यक्तियों के पास वे ही महान् दुखदायक होते हैं; सदाचारी व्यक्तियों की विद्या सबको लाभदायक होती है—दुराचारियों की विद्या से सबको हानि होती है; पुत्र-हीन गृहस्थी पुत्र-जन्म पर बड़ा हर्ष मानता है—विधवा स्त्री गर्भ में ही उसे मार डालना चाहती है; पतिव्रता स्त्री, पति को और स्नेह करने वाला पति, पत्नी को एवं सुपुत्र, पिता को प्यारा लगता है—इनके विपरीत गुणों वाले पति, पत्नी और पुत्र, शत्रु प्रतीत होते हैं; सर्दी में जो गर्म कपड़े तथा गर्म आहार-विहार अच्छे लगते हैं—गर्मी में वे ही बुरे प्रतीत होते हैं; भूखे को भोजन बहुत स्वादु लगता है—अघाए हुए को उससे ग्लानि होती है; तेज अग्नि वाले को युक्तिसे खाने पर दूध, घृतादि पौष्टिक पदार्थ बलवर्द्धक होते हैं—मन्दाग्नि की दशा में अथवा अयुक्ति से खाने पर रोग उत्पन्न करते हैं; मनुष्य के लिए आक विष है—वही बकरी की खुराक है; मनुष्य को शहद मीठी लगती है—कुत्ते को कड़वी; हिन्दू लोग गङ्गा-स्नान से पुण्य मानते हैं—जैनी पाप; हिन्दू मूर्ति-पूजा और गौरक्षा धर्म मानते हैं—मुसलमान मूर्ति तोड़ना और गौहिंसा धर्म मानते हैं; भारतवासी स्त्रियों को पददलित रखना हितकर समझते हैं—पश्चिमी लोग उनको पूरी स्वतन्त्र रखना श्रेयस्कर मानते हैं; भारतवर्ष में पुरुष का स्त्री को विवाह कर अपने घर ले जाना श्रेष्ठाचार है—बर्मा में स्त्री का पुरुष को विवाह कर अपने घर लाने की रिवाज़ अच्छी गिनी जाती है। कहाँ तक गिनाया जाय, जगत का कोई भी व्यवहार सदा-सर्वदा एकसा नहीं रहता। अतः जो वस्तु निरन्तर परिवर्तनशील है—एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं रहती—उसके किस रूप को सच्चा माना जाय। सत्यता के ठहरने के लिए कोई स्थिर-बिन्दु भी तो चाहिए। किन्तु जगत के नाना भाँति के बनाव में ज़रा भी स्थिरता (स्थिर-बिन्दु) नहीं है—इसलिए वह सत्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु एकत्व भाव में, जगत

अवश्य ही सत्य है; क्योंकि उसका अस्तित्व यानी होना प्रत्यक्ष है; उसमें हलचल (चेतनता) प्रत्यक्ष है और वह प्यारा (सुहावना) भी लगता है—इसलिए अस्ति-भाति-प्रिय रूप से सदा एकसा रहने वाले एकत्व भाव में यह स्थूल जगत सत् है और प्रतिक्षण बदलने वाले नानात्व भाव में असत्।

अब सूक्ष्म आधिदैविक दृष्टि से विचार कर देखा जाय तो भौतिक जगत के मूल तत्त्व अपने सूक्ष्म भाव में घनीभूत होकर ही स्थूल बनते हैं और सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों के संयोग के तारतम्यानुसार अनन्त प्रकार के दृश्य उत्पन्न करते हैं; साथ ही प्राणियों के अन्तःकरण की सूक्ष्म वृत्तियाँ, अपनी घनता से स्थूल इन्द्रिय रूप हो कर, उक्त तीनों गुणों के तारतम्य से, जगत के उपरोक्त नाना प्रकार के दृश्यों के साथ सम्बन्धित होकर भाँति-भाँति के व्यवहार करती हैं। सारांश यह कि स्थूल जगत का का कारण सूक्ष्म जगत है। किसी भी घटना अथवा कार्य्य का पहिले (सूक्ष्म) मन में सङ्कल्प उठता है और वह सङ्कल्प जब दृढ़ होकर घनीभूत हो जाता है, तब कार्य्य-रूप में परिणत होता है। मन में जब देखने का सङ्कल्प उठता है तो वह तेजात्मक होकर चक्षु रूप से नाना प्रकार के रूप देखता है; सुनने का सङ्कल्प उठता है तो आकाशात्मक होकर कर्ण रूप से शब्द सुनता है; सूँघने का सङ्कल्प उठता है तब पृथ्व्यात्मक होकर नासिका रूप से गन्ध लेता है; रसास्वादन का सङ्कल्प उठता है तो जलात्मक होकर रसना रूप से सब रसों का स्वाद लेता है और स्पर्श करने का सङ्कल्प उठता है तो वाय्वात्मक होकर त्वचा रूप से सब प्रकार के स्पर्श करता है। एक तरफ तो (सबके) समष्टि मन के सङ्कल्प से सूक्ष्म पञ्चतत्त्व स्थूल होकर समष्टि जगत के सब पदार्थ रूप बनते हैं और दूसरी तरफ प्रत्येक शरीर धारी के व्यष्टि मन के सङ्कल्प से उक्त पञ्चतत्त्व ही व्यष्टि भाव से इन्द्रिय रूप होकर जगत के पदार्थों के साथ सब प्रकार के व्यवहार करते हैं। अतः स्थूल आधिभौतिक जगत की सत्ता सूक्ष्म आधिदैविक

जगत पर ही निर्भर है। परन्तु सूक्ष्म आधिदैविक जगत का नानात्व भी परिवर्तनशील है अर्थात् वह मन का सङ्कल्प रूप होने से प्रतिक्षण निरन्तर बदलता रहता है; क्योंकि मन के सङ्कल्प एक क्षण भी इकसार स्थिर नहीं रहते, किन्तु क्षण-क्षण में उठते और लय होते रहते हैं; अतः सूक्ष्म जगत का नानात्व भी झूठा है। परन्तु चित्त जब एकाग्र होता है तब सब सङ्कल्प मिट जाने पर भी एकाग्रावस्था का अस्तित्व, उसका अनुभव और उसका आनन्द समान रूप से सब में रहता है, अतः सूक्ष्म जगत की भी एकता सच्ची है।

उपरोक्त विषय का प्रत्यक्ष अनुभव नित्य-प्रति—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति (स्वप्न-रहित गाढ़-निद्रा) की अवस्थाओं में—सब लोगों को होता रहता है। जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर से स्थूल व्यवहार होते हैं। स्वप्न अवस्था में सूक्ष्म=सङ्कल्पमय शरीर से केवल मानसिक व्यवहार होते हैं और सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) की अवस्था में जाग्रत और स्वप्न (स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों) के व्यवहार अपने कारण=प्रकृति में लय होकर कारण (बीज) रूप से रहते हैं और फिर उसी कारण= प्रकृति से पुनः इनका प्रादुर्भाव होता है। जिस तरह जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति—तीन अवस्थाएँ प्रति-दिन सबको अनुभव होती हैं, उसी तरह मनुष्य-शरीर की आयु में भी उक्त तीनों अवस्थाएँ होती हैं, प्रत्येक शरीर अपनी उत्पत्ति से पहले बीज रूप से पिता-माता के गर्भ में सुषुप्त अवस्था में रहता है; फिर शैशव में मनोराज्य की स्वप्न अवस्था में से होकर स्थूल जगत का अनुभव करने वाली बाल, युवा एवं वृद्धावस्था रूपी जाग्रत को क्रमशः प्राप्त करता है और शरीर के नाश होने पर उक्त स्थूल (जाग्रत) और सूक्ष्म (स्वप्न मनोराज्य की अवस्था) दोनों सुषुप्ति (कारण) में लय हो जाते हैं और समय पाकर जब मन के सङ्कल्प उद्भव होते हैं, तब फिर सुषुप्ति (कारण) से स्वप्न (सूक्ष्म) और जाग्रत (स्थूल) निकल आते हैं। इसी तरह यह स्थूल और सूक्ष्म जगत भी अपने कारण रूप

प्रकृति से उत्पन्न होता है और पीछे प्रकृति में ही लय हो जाता है। सारांश यह कि जाग्रत = स्थूल का आधार स्वप्न = सूक्ष्म है और जाग्रत = स्थूल और स्वप्न = सूक्ष्म दोनों का आधार सुषुप्ति = कारण है। जाग्रत = स्थूल में, स्वप्न = सूक्ष्म अवस्था यानी मन के सङ्कल्प और सुषुप्ति = कारण अवस्था यानी प्रकृति, दोनों बनी रहती हैं और स्वप्न = सूक्ष्म अवस्था में सुषुप्ति = कारण यानी प्राकृत अवस्था बनी रहती है और जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का अनुभव करने वाला अपना आप (आत्मा) सब अवस्थाओं में इकसार रहता है। जाग्रत अवस्था में जो अपना आप "मैं" रूप से सब स्थूल व्यवहार करता है वही अपना आप स्वप्न अवस्था में सूक्ष्म मानसिक व्यवहार करता है और जब जागता है, तब अपने स्वप्न के अनुभव स्मरण करता है। सुषुप्त अवस्था में वही अपना आप गाढ़ निद्रा का आनन्द लेता है और जब जागता है तब अपनी सुषुप्ति के आनन्द, और कुछ भी न जानने रूपी अज्ञान, का स्मरण करता है। यद्यपि शरीर की जाग्रत (स्थूल), स्वप्न (सूक्ष्म) और सुषुप्ति (कारण)—तीनों अवस्थाओं की भिन्नता बदलती रहती है, परन्तु इन तीनों अवस्थाओं में एकता रूप अपना आप यानी सत्-चित्-आनन्द स्वरूप, सर्वव्यापक, अज, अविनाशी आत्मा सदा एकरस रहता हुआ सबका अनुभव करता रहता है। जिस तरह व्यष्टि शरीर की तीन अवस्थाएँ हैं उसी तरह समष्टि जगत की भी स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन आवस्थाएँ हैं और जो सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप आत्मा व्यष्टि शरीर में सदा इकसार रहता है, वही समष्टि जगत की तीनों अवस्थाओं में भी सदा इकसार बना रहता है और साथ ही साथ वह इन अवस्थाओं से परे अर्थात् इनसे अलिप्त रहता है। जिस तरह बाइस्कोप के दिखाव में सफ़ेद पर्दा सबका आधार होता है—उस सफ़ेद पर्दे पर पहिले अँधेरे का प्रतिबिम्ब पड़ता है और फिर उस अँधेरे के बीच में एक गोल प्रकाश पड़ता है और उस गोल प्रकाश में नाना प्रकार के दृश्यों का प्रतिबिम्ब पड़ता है; उसी तरह एक

शुद्ध स्वरूप आत्मा में पहिले उसकी चित्-शक्ति अर्थात् प्रकृति (माया) के आवरण की सुषुप्त अवस्था आती है; फिर उस सुषुप्ति में मानसिक सङ्कल्प रूपी स्वप्नावस्था का गोल प्रकाश पड़ता है और उस स्वप्नावस्था रूपी प्रकाश में नाना भाँति के स्थूल जगत का बनाव बनता है। जिस तरह बाइस्कोप के दिखाव में उस अन्धकार, प्रकाश और नाना भाँति के दृश्यों का आधार जो सफ़ेद पर्दा होता है वह एक और सत्य होता है तथा उस पर भाँति-भाँति के जो प्रतिबिम्ब पड़ते हैं वे सब मिथ्या दिखाव मात्र होते हैं; उन दिखावों से पर्दे का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, उन नाना प्रकार के दृश्यों के दिखाई देते समय, उससे पहिले तथा पीछे वह ज्यों का त्यों निर्लेप बना रहता है; उसी तरह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण सबका आधार—अपना आप अर्थात् आत्मा—एक है तथा सदा एकरस रहने वाला एवं सत्य है और स्थूल, सूक्ष्म व कारण—तीनों अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न परिवर्तनशील, कल्पित एवं मिथ्या बनावों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; वह सदा निर्लेप रहता है।

जगत की एकता अर्थात् नाना भाँति के नाम रूपात्मक बनाव में जो एकत्व भाव है वही आत्मा = परमात्मा अथवा ईश्वर है और उस एकता रूपी ईश्वर में किसी प्रकार का क्लेश, बन्धन व पराधीनता आदि नहीं है, किन्तु वह पूर्ण सुख-स्वरूप, सदा स्वतन्त्र अर्थात् मुक्त है। उस एकता रूपी ईश्वर को सब जगत में निरन्तर एक समान व्यापक देखते हुए, अपने व्यक्तित्व को उसमें जोड़ कर तथा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को उसके अर्पण करके अर्थात् सारे जगत से अपनी एकता करके तथा अपने स्वार्थों को सबके स्वार्थों के अन्तर्गत करके, सबके साथ प्रेम* पूर्वक समता* का व्यवहार करने से कोई क्लेश, बन्धन या पराधीनता शेष नहीं रहती।

इसलिए संसार में जितने भूतप्राणी हैं, उनसे अपनी एकता का अनुभव करते हुए, समत्व* भाव से सबके साथ, उनके प्राकृतिक गुण तथा

*प्रेम व समता का खुलासा पीछे तृतीय प्रकरण में देखिए।

अपने-अपने सम्बन्ध के अनुसार यथायोग्य प्रेम* का व्यवहार करना चाहिए। चाहे कोई व्यक्ति किसी भी मज़हब, धर्म, सम्प्रदाय अथवा मत का अनुयायी हो, किसी भी देश का निवासी हो, किसी भी जाति या समाज का हो अथवा किसी भी परिस्थिति में हो—यहाँ तक कि ब्रह्मा आदि देवता एवं पृथ्वी के सम्राट से लेकर पशु, पक्षी, वनस्पति आदि ही क्यों न हो—सब से एकता का अनुभव करते हुए, सबके प्राकृत गुणों की योग्यता तथा परस्पर के सम्बन्ध के अनुसार यथायोग्य साम्य* भाव से प्रेम* का व्यवहार करना चाहिए। किसी के साथ भी राग*, घृणा*, तिरस्कार* का भाव नहीं रखना चाहिए। परन्तु यह प्रेमयुक्त समता का व्यवहार, एकता रूप ईश्वर के लिए होना चाहिए, पृथक्ता रूप पिशाच के लए नहीं! अर्थात् जो सात्विक प्रकृति के लोग, एकता रूप ईश्वर के उपासक हों, उनके साथ सतोगुणी वर्ताव द्वारा सहयोग करना और उनके सात्विक आचरणों में सहायक होना चाहिए और जो राजस-तामस प्रकृति के लोग पृथक्ता (भेद-बुद्धि) रूपी पिशाच के दास बन कर संसार के लोगों के प्रति राग-द्वेष आदि भावों के कारण एकता रूपी ईश्वर से विमुख रहते हैं—उनको पृथक्ता (भेद-बुद्धि) रूपी पिशाच से छुड़ाने के लिए—उनसे उनके प्राकृत गुणों के अनुकूल व्यवहार करना चाहिए। इस तरह व्यवहार करने से किसी व्यक्ति को मानसिक अथवा शारीरिक व्यथा हो अथवा किसी की आर्थिक हानि हो अथवा किसी का प्रिय पदार्थों से वियोग हो जाय अथवा किसी का शरीर भी चला जाय तो कुछ भी परवाह न करनी चाहिए अर्थात् उपेक्षा कर देनी चाहिए; परन्तु इस बात का हरदम ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा करते समय अपने चित्त में कभी एकता के प्रेमयुक्त साम्य भाव का अभाव न हो। अपने शरीर के रोगी अङ्ग को स्वस्थ बनाने के लिए जिस तरह काट-छाँट, पुल्टिस, सिकताव, मरहम-पट्टी आदि का उपचार किया जाता है, उसी तरह भेद-बुद्धि रूपी रोग-ग्रस्त

*राग, द्वेष, घृणा, तिरस्कार का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

व्यक्तियों को एकता रूपी आरोग्यता प्राप्त कराने के लिए—उनके हित के उद्देश्य से—उन से उनके उपयुक्त बर्ताव करना चाहिए, द्वेष तथा घृणा के भाव से नहीं। जिन लोगों के चित्त में एकता के प्रेम भाव की दृढ़ता नहीं हो गई हो अर्थात् जिन्होंने अपने व्यक्तित्व की एवं व्यक्तिगत स्वार्थों की दूसरों के साथ एकता न कर दी हो एवं जिनका हृदय राग, द्वेष तथा घृणा के भावों से दूषित बना हुआ हो, उनको—दूसरों के राजस-तामस भाव छुड़ाने के लिए—किसी को शारीरिक कष्ट देने तथा किसी प्रकार की हानि पहुँचाने का कोई अधिकार नहीं है। उन्हें पहिले अपने भाव शुद्ध करने चाहिए। जो धार्मिक,साम्प्रदायिक, सामाजिक एवं राजनैतिक सिद्धान्त अथवा नियम, सर्वत्र एकता के समत्व भाव के विरुद्ध, राग-द्वेष से भेदोत्पादक विषमता उत्पन्न करने का समर्थन करते हों—वे चाहे कितने ही प्राचीन अथवा प्रतिष्ठित क्यों न हों—उनकी अवहेलना कर देनी चाहिए।

कोई सतोगुण प्रधान व्यक्ति या समाज अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण ऊँचे दर्जे के कर्म करे और उनके फलस्वरूप ऊँचे दर्जे के भोग भोगे; तथा रज-तम प्रधान व्यक्ति या समाज अपने उक्त गुणों के कारण नीची श्रेणी के कर्म करे और उनके फलस्वरूप निम्न श्रेणी के भोग भोगे; तो आपस में एक दूसरे के प्रति घृणा, तिरस्कार अथवा ईर्षा-द्वेष के भाव रखने का कोई कारण नहीं है अर्थात् ऊँचे दर्जे के कर्म करने और भोग भोगने वालों को निम्न श्रेणी वालों से घृणा और तिरस्कार न करना चाहिए तथा निम्न-श्रेणीवालों को उच्च श्रेणी वालों से ईर्षा-द्वेष न करना चाहिए, क्योंकि गुणों के अनुसार कर्म करना और भोग भोगना ही सच्ची समता है। निम्न-श्रेणीवाले लोगों को उच्च श्रेणी वालों से मैत्री का बर्ताव करना और उच्च श्रेणीवालों को निम्न-श्रेणीवालों के प्रति करुणा और अनुग्रह का बर्ताव करना चाहिए। (आपस के भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रेमके बर्तावका विस्तृत खुलासा इस पुस्तक के तीसरे प्रकरण में देखिए।)

वास्तव में कर्म और भोग स्वयं ऊँचे-नीचे अथवा अच्छे-बुरे नहीं होते, किन्तु सभी अपने अपने स्थान में एक समान आवश्यक और आपस में एक-दूसरे के एक समान उपकारी हैं। सभी एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। बड़े-छोटे सभी एक-दूसरे के भोक्ता भोग्य हैं—चाहे वे किसी जाति, वर्ण, समाज व देश के हों। यदि स्त्री पुरुष की दासी है तो पुरुष स्त्री का गुलाम है; पुत्र पिता का अज्ञाकारी है तो पिता पुत्र का टहलुवा है; शिष्य गुरु का अनुचर है तो गुरु शिष्य का सेवक है; सेवक स्वामी का दास है तो स्वामी सेवक के वशवर्ती है और प्रजा राजा की भक्त है तो राजा प्रजा का नौकर है। अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी एक दूसरे की सेवा पर निर्भर रहते हैं, अतः एक-दूसरे के सेवक-सेव्य हैं। किसान स्वयं अपनी तथा दूसरों की अन्न की आवश्यकता पूरी करता है, परन्तु वस्त्र के लिए जुलाहा के अधीन रहना पड़ता है; औज़ारों के लिए जुलाहा तथा किसान आदि को सुथार और लुहार के अधीन रहना पड़ता है; चमड़े के सामान के लिए सबको चमार के और सफ़ाई के लिए मेहतर के अधीन रहना पड़ता है। इसी तरह एक ग्राम, नगर, प्रान्त अथवा देश के लोग अपनी सारी आवश्यकताएँ अपने ही ग्राम, नगर, प्रान्त अथवा देश में पूरी नहीं कर सकते, किन्तु अपनी-अपनी विशेष योग्यतानुसार अपने यहाँ उत्पन्न होने वाले पदार्थों से दूसरे ग्राम, नगर, प्रान्त एवं देश की आवश्यकताएँ पूरी करते हुए उनके बदले में दूसरों की विशेष योग्यता से उत्पन्न होने वाले पदार्थों के लिए उनके अधीन रहते हैं। चाहे वे पदार्थ विद्या और ज्ञान के रूप में हों अथवा विज्ञान, कला-कौशल, महनत-मजदूरी के रूप में अथवा संगृहीत पूँजी एवं सैनिक शक्ति की सहायता के रूप में अथवा आवश्यकीय भोग्य सामग्रियों के रूप में हों। सारांश यह कि अपनी सारी इच्छाएँ और आवश्यकताएँ कोई भी व्यक्ति और कोई भी देश स्वयं अपने आप पूरी नहीं कर सकता, किन्तु किसी न किसी रूप में

एक-दूसरे का आश्रय लेना ही पड़ता है। जिसकी अवश्यकताएँ और आकांक्षाएँ जितनी अधिक होती हैं, उतना ही अधिक वह दूसरों के अधीन रहता है और जिसकी आवश्यकताएँ तथा आकांक्षाएँ जितनी कम होती हैं, उतना ही वह कम पराधीन रहता है। परन्तु अपनी बढ़ी हुई आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए यदि कोई दूसरों की प्राकृतिक आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को अस्वाभाविक रूप से कुचल कर उनको दबाना या बन्धन में रखना चाहे तो वह स्वयं दबता और बँधता है। रस्सी किसी के हाथ पैर बाँधती है तो वह स्वयं बँधती है, अत्याचारी पुरुष किसी को किसी स्थान में क़ैद करता है तो उसकी पहरेदारी में वह स्वयं क़ैद हो जाता है; सर्प छछुन्दर को अपने मुँह में दबाए रखता है तो वह स्वयं उसके अधीन हो जाता है—यही दशा जगत् में सर्वत्र प्रत्यक्ष देखने में आती है, क्योंकि क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य हुआ करती है।

तात्पर्य्य यह कि ऊँचा-नीचापन, सुख-दुःख, स्वाधीनता-पराधीनता आदि कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है—ये केवल व्यक्तियों और समाज के मन के भावों से उत्पन्न होते हैं। इसलिए ऊँचे-नीचे कर्म करने और भोग भोगने तथा स्वाधीनता-पराधीनता के भेद-भाव से, आपस में लड़ना-झगड़ना मूर्खता है और इसी से सब क्लेश और बन्धन होते हैं। सच्चा निरङ्कुश सुख और स्वाधीनता, सबके साथ एकता का प्रेम रखने और अपनी आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं को कम करके उनको सर्वथा अपने वश में रखने में है।

किसी व्यक्ति या समाज में जब तक सतोगुण की प्रधानता रहती है तब तक वह राजस-तामस लोगों की अपेक्षा ऊँचा, सुखी और स्वतन्त्र ही रहता है; चाहे राजस-तामस प्रकृति के लोग उससे कितनी ही ईर्षा-द्वेष करके लड़ें-झगड़ें। और जिनमें रज-तम की प्रधानता होती है वे अपने राजस-तामस भावों के रहते सात्विक लोगों की अपेक्षा नीचे, दुखी और

पराधीन ही रहते हैं। योग्यतम लोग ही संसार में (अयोग्य लोगों की अपेक्षा) अधिक टिक सकते हैं और जिनमें सतोगुण की प्रधानता है वे ही योग्यतम हैं। निर्बल सबल की खुराक है, यह प्राकृतिक नियम प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है और जिनके हृदय में एकता रूपी ईश्वर का जितना ही अधिक निवास है अर्थात जिनमें आत्मशक्ति का जितना ही अधिक विकास है, उतने ही वे अधिक सबल हैं तथा जो एकता रूपी ईश्वर से जितने ही अधिक विमुख हैं अर्थात् जिनमें आत्मबल की जितनी ही कमी है वे उतने ही अधिक निर्बल हैं। इसलिए सुख-शान्ति-पूर्वक जीवित रहने की इच्छा रखने वालों को सात्विक आचरणों द्वारा एकता रूपी आत्मबल को बढ़ाना चाहिए।

जिस तरह गणित की इकाई (Unit) के योग (एकता से) दहाई बनती है, दहाई के योग से सैकड़ा, सैकड़ा के योग से सहस्र, सहस्र के योग से लक्ष; इसी तरह उत्तरोत्तर योग के बढ़ते-बढ़ते अनन्तता होकर सर्वत्र एकता हो जाती है—एक के योग से अनन्त और अनन्त में एक होता है—इसी तरह अखिल जगत की एकता प्राप्त करने के लिए एक व्यक्ति अपने स्त्री-पुत्रादि नज़दीकी सम्बन्ध के व्यक्तियों की एकता के योग से कौटुम्बिक एकता करे; एक-एक कुटुम्ब दूसरे कुटुम्बों से एकता में जुड़कर सामाजिक एकता करे; एक-एक समाज दूसरे समाजों से एकता में जुड़कर देश की एकता करे और एक-एक देश दूसरे देशों से एकता में जुड़कर विश्व की एकता करे। इस तरह एकता के योग की बढ़ती हुई क्रिया द्वारा प्रत्येक व्यक्ति सारे विश्व से एकता करके अनन्तता को प्राप्त हो सकता है अर्थात् परम सुखी और पूर्ण स्वाधीन = जीवन मुक्त हो सकता है।

संसार के सारे लड़ाई-झगड़े और नाना प्रकार के क्लेश मिटा कर वास्तविक सुख-शान्ति स्थापित करने एवं सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक मात्र अचूक उपाय यही है।

ॐ तत् सत्

गायन

गीता सार

(राग भैरवी ताल कवाली)

मिल रहो सबों से यार, मज़ा येही ज़िन्दगानी का ॥ टेक ॥
बड़े भाग मानुप देह पाई, राग द्वेष में भगर गँवाई,
लख चौरासी बीच हाल होगा हैरानी का ॥ मिल रहो० ॥१॥
एक ही राम जगत सारी में, पशु-पक्षी और नर-नारी में।
छोड़ो रस्ता वैर भाव और खेंचा-तानी का ॥ मिल रहो० ॥२॥
दुखियों ऊपर दया जो रखता, सुखी जनों को मित्र समझता।
मोद करे मन में सुनके यश हरिजन दानी का ॥ मिल रहो० ॥३॥
खल दुष्टों से करे किनारा, जो होवे भगवत को प्यारा।
समता बुद्धि रखे, भला करता सब प्राणी का ॥ मिल रहो० ॥४॥
बोले सत्य वचन प्रिय-हित के निर्मल सरल भाव हों चित के
हिंसा छल अभिमान करे नहीं काम गिलानी का ॥ मिल रहो ॥५॥
काम-क्रोध के रहे न वश में, हर्ष शोक नहीं यश-अपयश में।
जीते ममता लोभ चिह्न यह सच्चे ज्ञानी का ॥ मिल रहो० ॥५॥
करतब समझ कर्म शुभ करना, अहङ्कार का दम नहीं भरना।
जग में रहो निसङ्ग सार भगवत की बानी* का ॥ मिल रहो० ॥७॥
हर दम ध्यान प्रभू का धरिये, सब कुछ उसके अर्पण करिये।
दूर करे दुःख द्वन्द्व पति लक्ष्मी † महारानी का ॥
मिल रहो सबों से यार, मज़ा यही ज़िन्दगानी का ॥८॥

ॐ तत् सत्

---

* श्रीमद्भगवद्गीता † प्रकृति

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	११	गु	गुं
५	१	तां	ता
,,	१४	जिस तरह	जिस तरह कोई
,,	२४	से नहीं	से ही नहीं
११	१३	व्यक्तित्व	व्यक्तिगत
१२	११	इन से	इनमें से
,,	१८	पैर	पर
,,	१९	पर	पैर
१८	५	संश्य	संशय
,,	२१	ार	ङ्कार
,,	,,	व्यक्तित्व	व्यक्तिगत
२०	१६	बत तक	तबतक
,,	१८	सक्तः	सक्ताः
२८	१५	६९	५९
,,	२४	करने इच्छा	करने की इच्छा
२९	१७	आधकार	अधिकार
३०	१४	कुर्त्तव्य	कर्त्तव्य
,,	१९	आमयन्सव	आमयन्सर्वं
३१	१२	र्पां	त्परां
३२	१९	समम	समय
३३	५	से	में

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३	१२	विद्याओं को	विद्याओं का
”	”	श्रेष्ठ	सबसे श्रेष्ठ
”	१७	गुह्म	गुह्य
३६	२१	साध्य	साम्य
”	२४	पुस्तक	पुस्तकें
४२	५	इनका	इनका कोई
४८	२४	युवकों	पुस्तकों
४९	४	आपस	आपस
५२	१८	किसने	जिसने
५८	२५	स्वामी में	स्वामी मैं
५६	२१	शरीर ही	इसी को
६४	७	शिक्षण	रक्षण-शिक्षण
६८	५	से	पर
”	१२	अवस्था	व्यवस्था
७२	१८	।स्थात	स्थित
७३	१३	के	से
७३	१३	हु	हुए
७४	४	हीती है	होती है
७४	१२	स्थिर	स्थित
७५	२२	आत्मा में	आत्मा-परमात्मामें
”	२५	याग	योग
८३	८	वेदों	देहों
८७	२	प्रमाद	प्रसाद
”	८	प्रसन्न और	प्रसन्न रखना और

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८७	१५	वस्त्र सहित	वस्त्र रहित
८८	१५	काम	गर्व, काम
८६	१	विविधं	त्रिविधं
,,	२	तः	त्
९२	११	स्त्री की	स्त्री को
९४	२५	वात्यसत्य	वात्सल्य
९५	२४	दहे के	दहेज के
१००	१८	मकड़ों	मकोड़ों
१०६	१३	शौकनी	शौकीनी
११६	१५	दूसरे की दबाने	दूसरे को दबाने
११९	१२	बाकी नहीं रहती	बाकी रहती
१२०	२	आर	और
१२५	१७	स्याप्ति	स्यात्रि
१२८	१०	बृद्धि	बुद्धि
१३०	१०	आदि	आधि
१३२	११	३	१९
१३६	४	सच	सत्
,,	१४	अपेक्षा	उपेक्ष
१३८	२३	वर्ग	वर्ण
१४०	२५	विर्वाचित	निर्वाचित
१४२	१७	व	वे
,,	२४	वही	वहीं
१४४	९	उनकी अवज्ञा	अवज्ञा
१४५	१४	जोड़े नर	जोड़े के नर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५४	९	उसको	उनको
१५६	११	सब	सम
१५७	१	और तम रज	रज और तम
१५९	१२	मनुष्यों में आपस में	मनुष्यों में
,,	,,	मनुष्यों में भी	मनुष्यों में आपस में भी
,,	२६	करने की शक्तिविशेष	करने की विशेष
१६३	१६	सार	संसार
१६४	४	वियुक्तेस्तु	वियुक्तैस्तु
,,	,,	विषयान्द्रियैश्वरन्	विषयानिन्द्रि-यैश्वरन्
१६८	२	संभावना दीखे	संभावना न दीखे
१७०	१३	सभा	सत्ता
१७५	१४	करके	करते
१७६	२५	श्रे	श्रेष्ठ
१७८	१०	और और	और
१८२	१६	विषय	विषम
१८५	३-४	न डरना न डराना	डरना-डराना
१८६	१	द्वेष-का-	द्वेष-का-द्वेष
,,	१६	सदृश	उनके सदृश
१८९	२२	संयम	संशय

सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर के

प्रकाशन

१–दिव्य-जीवन ।=)
२–जीवन-साहित्य (दोनों भाग) १=)
३–तामिलवेद ॥।)
४–शैतान की लकड़ी ॥।=)
५–सामाजिक कुरीतियाँ ॥।)
६–भारत के स्त्री-रत्न (दोनों भाग) १॥।-)
७–अनोखा ! १।=)
८–ब्रह्मचर्य-विज्ञान ॥।-)
९–यूरोप का इतिहास (तीनों भाग) २)
१०–समाज-विज्ञान १॥)
११–खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र ॥।≡)
१२–गोरों का प्रभुत्व ॥।=
१३–चीन की आवाज़ ।-)
१४–दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह (दो भाग) १।)
१५–विजयी बारडोली २)
१६–अनीति की राह पर ।≡)
१७–सीताजी की अग्नि-परीक्षा ।-)
१८–कन्या-शिक्षा ।)
१९–कर्मयोग ।=)
२०–कलवार की करतूत =)
२१–व्यावहारिक सभ्यता ।)॥
२२–अँधेरे में उजाला ।≡)
२३–स्वामीजी का बलिदान ।-)
२४–हमारे ज़माने की गुलामी ।)
२५–स्त्री और पुरुष ॥)
२६–घरों की सफाई ।) (अप्राप्य)
२७–क्या करें ? (दो भाग) १॥=)
२८–हाथ की कताई-बुनाई (अप्राप्य) ॥=)
२९–आत्मोपदेश ।)

३०—यथार्थ आदर्श जीवन
(अप्राप्य) ॥-)
३१—जब अंग्रेज नहीं आये थे— ।)
३२—गुरु गोविन्दसिंह
(अप्राप्य) ॥=)
३३—श्रीरामचरित्र १।)
३४—आश्रम-हरिणी ।)
३५—हिन्दी-मराठी-कोष २)
३६—स्वाधीनता के सिद्धांत ॥)
३७—महान् मातृत्व की ओर— ।॥=)
३८—शिवाजी की योग्यता ।=)
(अप्राप्य)
३९—तरंगित हृदय ॥)
४०—नरमेध ! १॥)
४१—दुखी दुनिया ०॥)
४२—ज़िन्दा लाश ॥)
४३—आत्म-कथा
(दो खण्ड) २)
४४—जब अंग्रेज़ आये
(ज़ब्त) १।=)
४५—जीवन-विकास
अजिल्द १।) सजिल्द १॥)
४६—किसानों का बिगुल =)
(ज़ब्त)
४७—फाँसी ! ॥)
४८—अनासक्तियोग तथा गीता बोध ।)
४९—स्वर्ण-विहान (नाटिका)
(ज़ब्त) ।=)
५०—मराठों का उत्थान और पतन २॥)
५१—भाई के पत्र—
अजिल्द १॥) सजिल्द २)
५२—स्वगत— ।=)
५३—युग-धर्म—ज़ब्त १=)
५४—स्त्री-समस्या
अजिल्द १॥) सजिल्द २)
५५—विदेशी कपड़े का मुकाबला ॥=)
५६—चित्रपट ।=)
५७—राष्ट्रवाणी ॥=)
५८—इंग्लैण्ड में महात्माजी १)
५९—रोटी का सवाल १)
६०—दैवीसम्पद् ।=)